प्रकाशक :

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ

समता भवन, रामपुरिया मार्ग,

बीकानेर (राजस्थान)

चिन्तनकर्त्ता—*मुनि श्री शांतिलालजी म० सा०*

प्रथम आवृति—सन् १९७५, प्रतियां १०००

मूल्य २)

मुद्रक :

मेहता फाइन आर्ट प्रेस

२०, बालमुकुन्द मक्कर रोड, कलकत्ता-७०००07

फोन : ३४-१२४७

प्रकाशकीय

वर्तमान युग मे जिधर भी दृष्टिपात करते हैं, प्रायः सर्वत्र अनैतिकता एव अधर्म का साम्राज्य दिखलाई देता है। आज का मनुष्य नैतिकता और आध्यात्मिकता के सन्मार्ग से विचलित होकर अनैतिकता और भौतिकता के बिहड जगल में भटक रहा है। उसके मस्तिष्क पर भोग का भयानक भूत सवार है, और वह धर्म-भावना से दूर भागा जा रहा है।

ऐसी स्थिति मे भगवान् महावीर की २५०० वीं परिनिर्वाण जयन्ती के उपलक्ष्य मे बाल-ब्रह्मचारी, चारित्र-चूडामणि, समता दर्शन-प्रणेता, जिनशासन-प्रद्योतक, धर्मपाल प्रतिबोधक, परमश्रद्धेय आचार्य श्री श्री १००८ श्री नानालालजी महाराज साहब की असीम कृपा से उनके शिष्य-रत्न पं० श्री शान्ति मुनिजी महाराज ने अपने मननशील विविध अनुभवों का एक सग्रह तैयार करके परम पूज्य आचार्यश्री जी महाराज सा० के पुनीत चरणों मे भेंट किया। आचार्य श्री जी ने सग्रह का अवलोकन कर इसे वोसरा (विसर्जित कर) दिया।

समाज के कतिपय मननशील महानुभावों ने इस सग्रह को सर्व साधारण के हितार्थ प्रकाशित करने का सुझाव दिया। फलतः सघ द्वारा प्रस्तुत सग्रह 'अनुभव पराग' के नाम से प्रकाशित किया

जा रहा है। आशा है, श्रद्धालु पाठक इस ग्रन्थ अमृत-तत्व से लाभान्वित होगे।

इसके प्रकाशन मे प० श्री लूनकरणजी 'विद्यार्थी', सरदारशहर एव मेहता फाईन आर्ट प्रेस, कलकत्ता के श्री मदनकुमारजी मेहता के प्रशंसनीय सहयोग के लिए हम हृदय से आभारी हैं।

भँवरलाल कोठारी
मंत्री
श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैनसघ
बीकानेर (राजस्थान)

समर्पण

परमश्रद्धास्पद, परमाराध्य, पूज्य - चरण आचार्यदेव श्री नानालालजी महाराज सा० के तपःपूत मानस से निःसृत विचार-भागीरथी के मधुर एव गम्भीर नाद से परिपूर्ण भारती की निर्मल धारा से हृदय को आप्यायित करने का सौभाग्य जब से मिला है, तब से जीवन और जगत् के रहस्यमय क्रीडा-क्षेत्र का अनासक्त एव तटस्थ दृष्टा की भांति निरीक्षण-परीक्षण करने का स्वमत्या एव स्वशक्त्या प्रयास करते हुए स्वानुभव विकास एवं आध्यात्मिक आलोक की प्राप्ति के पावन लक्ष्य को लेकर विभिन्न क्षेत्रो मे विचरण करते समय जैसी जगत्-दृश्यावलि सन्मुख आती गई, उसी को अपने ज्ञान कोष मे स्थायी रूप से संकलित करने की दृष्टि से डायरी के पृष्ठो पर मैं नियमित रूप से अकित करता गया।

मेरा यह कार्य केवल मेरे ही लिए था किन्तु 'अवश्य भाविनो भावा भवन्ति' के तथ्य को प्रकाशित करनेवाला यह कार्य स्वयमेव अपने सरदारशहर (राज०) चातुर्मास प्रवासकाल मे विद्वत्मनीषी श्री लूणकरणजी विद्यार्थी का सयोगतः सहयोग प्राप्त कर विशृंखलित मुक्ताओं की व्यवस्थित सग्रहीति के द्वारा हार का रूप ग्रहण कर अन्तिम रूप से आचार्यदेव के चरणो से पूत होने का सौभाग्य प्राप्त कर सका। यह मेरे लिए एक विचित्र अनुभूतिका प्रदायक है।

वास्तव मे ये अनुभव इतने गम्भीर, अद्भुत और सर्वथा नवीन नही हैं, जिनमे काव्य-प्रतिभा का आरोपण किया जा सके। हा, दैनिक व्यवहारचर्या एव आन्तरिक दुर्वलताओं के प्रति सजगता का नाद अवश्य इनमे मुखरित हुआ है। तथ्य यह है कि गम्भीर शास्त्रीय बातों का विवेचन भले ही हम करते रहे किन्तु गतिक्रिया तो जीवन के व्यवहारों में ही होती है। अतः समुचित व्यवहार की मर्यादा का निर्वहन भी जीवन को स्वतः सयमित कर लक्ष्य की ओर गति प्रदान करता है।

यह नगण्य सा प्रयास अभी मेरी दृष्टि मे पर्याप्त अपूर्ण है। इसे मै अपनी उपहास के योग्य अकिञ्चन भेंट के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं मानता। फिर भी प्राप्त को हम साधुओं के लिए पूज्य आचार्यदेव के समक्ष प्रस्तुत करना शिष्य-धर्म मे सम्मिलित है। अस्तु, अब तक जो कुछ विश्व विराट् से भिक्षारूप मे अनुभव-आगार प्राप्त हुआ है, उसे डायरी के पृष्ठों के रूप मे श्रद्धापूर्वक श्री आचार्य देव के चरणों मे प्रस्तुत करने मे संकोच का अनुभव नहीं कर रहा हू।

ज्ञान और वैराग्य की साक्षात् प्रतिमा पूज्य आचार्य प्रवर अत्यन्त ही गम्भीर, उदार एवं अनन्त ज्ञान-प्रभा से विभूषित हैं। यह सामान्य पुस्तक उनके अनुकूल नहीं है। पुनरपि अपनी धर्म-मर्यादा एवं भक्ति-भावना से प्रेरित होकर समर्पित किया गया कतिपय भाव सुमनों का यह निर्गन्ध गुच्छ भी अवश्य स्वीकृत होगा, इसी

आशा एव अटूट विश्वास के साथ समर्पणकर्त्ता उन्हीं का एक आलोक कण :—

ज्योति प्राप्त कर उदित ज्ञान की
रश्मि छटा से
विकसित शतदल हृदय
भाव मकरन्द कणों को
चिन्तन की लेखनी में भर कर
निज विवेक के
तुहिन-पत्र पर जो कुछ अंकित
सब जिसके अधिकार क्षेत्र में
उन्हें समर्पित करने में
यह युग-युग का सौभाग्य
समझ कर
प्रथम किरण की
प्रथम भेंट गुरु "नाना"
चरण शरण तन मन
अर्पित कर
आज चढ़ाने मैं आया हूं।

—शान्ति मुनि

समर्पण के स्वर

उन्हीं मेरे

अनन्त

आराध्य

नाना-पदों को

जिन्होंने

धूलि धूसरित

पद-दलित

पाषाण-खण्ड को

जन जन का

अभिवन्दनीय

अभिनव रूप दिया

—शान्ति मुनि

भूमिका

प्रस्तुत ग्रन्थ वन्दनीय मुनि श्री शान्तिलालजी म० सा० की मौलिक अनुभूतियों का एक अमूल्य कोष है, जिन्हे उन्होंने अपने यात्रा-प्रसगो मे उपलब्ध किया और यथासमय उन्हे डायरी के पृष्ठों पर भाषावद्ध करने का कार्य चालू रखा। यदि वे ऐसा न करते तो कितने ही अनुभव-रत्नों को वे अपने लिए तथा जगत् के लिए आज सुरक्षित कैसे रख सकते ? अस्तु, मुनिश्री का यह कार्य मानव मात्र को इस ओर दृष्टि प्रदान करता है।

ग्र थ के समग्र पृष्ठों का गहन दृष्टि से अध्ययन करने पर पता चलता है कि मुनि-प्रवर ने अवसर पाकर अपने व्यक्तित्व की निश्छलता और सरल सहज वृति का परिचय भी स्वाभाविक रूप में प्रकाशित कर दिया है। जगन्तारिका के वदलते दृश्यों मे अपने हृदय की झाकी देखने का तथा आत्मालोचन एव आत्मतोलन का उनका जो प्रयास दिखलाई पड़ता है, उससे साधु और साधक का नैसर्गिक गुण स्वयमेव अभिव्यक्त हो जाता है। दूसरे शब्दों मे जगत् क्रिया-कलापों से प्रगट होने वाले परिणाम-कुपरिणाम को आपने उपदेष्टा रूप मे प्रगट न कर बहु-अशतः उपदिष्ट रूप मे ही व्यक्त किया है। इससे ऐसा लगता है कि आपकी साधक-स्थिति पर्याप्त उन्नत है। जो अपने को उपदेशक की गद्दी का हकदार मान लेता है, वह उपदिष्ट होने मे अपनी मानहानि समझता है, ऐसी स्थिति में उसके लिए उपदेश का प्रकाश प्रदान करने वाली सभी

खिडकियां बन्द हो जाती हैं और वह स्वयमेव अन्धकार मे खो जाता है। मुनि श्री ने इस तथ्य को, ज्ञान-पथ के इस रहस्य को, भलीभांति समझा है, अतएव आपने भी उपदेशात्मक शैली का प्रयोग नहीं किया हैं !

अपने सैकड़ो अनुभव-रत्नो की माला तैयार करते समय मुनिश्री ने प्रत्येक अनुभव रत्न को अलग नाम देकर प्रस्तुत किया हैं, ताकि विश्व की विविध मनोवृत्तियो, आचरणों एव भले-बुरे कार्यों को हम ठीक ढग से पहचान सकें।

रत्नमालिका की ये मणियां साहित्य - कला, ज्ञान - विज्ञान धर्म-अधर्म, हिंसा-अहिंसा, आत्मालोचन-परालोचन, मनोविज्ञान, आत्मदर्शन आदि विविध विषयो की प्रकाशक हैं और "अल्पाक्षरा विचित्रार्था" के चमत्कार की प्रतिपादक हैं।

मुझे विश्वास है कि मुनिवर की यह चिन्तन-भूमि पाठको के ज्ञान-अनुभव एव स्वचिन्तन की दिशा मे एक नया सन्देश देगी और इसे पढकर पाठक अपने-आप मे झाकने का प्रयास करेंगे तथा परालोचन की अपेक्षा आत्मानुसन्धान की ओर विशेष अग्रसर होगे। मैं वन्दनीय - चरण- मुनि प्रवर के इस प्रयास का इसी अटूट विश्वास के साथ पुनः पुनः अभिनन्दन करता हुआ यह आशा करता हूँ कि भविष्य मे उनके ऐसे सत्प्रयास से ससार की जीवन-यात्रा का और भी अधिक पाथेय प्राप्त होता रहेगा।

लूणकरण 'विद्यार्थी'

सरदारशहर — एम० ए० (सस्कृत—हिन्दी)

दिनांक—१-६-७५ — साहित्यरत्न, प्रभाकर, साहित्यालंकार

※ अनुक्रम ※

र्म और राजनीति

मानसिक अस्थिरता का मूल

: १ :

मानसिक अस्थिरता का मूल इन्द्रिय चपलता है। आज का मानव मानसिक अस्थिरता को नियंत्रित करना चाहता है, किन्तु उसके मूल मे पहुचने का प्रयास उसने अत्यल्प किया है। इसीलिए इस दिशा मे उसकी प्रगति नहीं देखी जा रही है। मैं आज की अनुभूति से इस निष्कर्ष पर पहुचा हूं कि यदि मानसिक शान्ति प्राप्त करना है तो सर्वप्रथम इन्द्रिय-नियत्रण की ओर दृष्टिपात करना होगा। नियत्रण से अभिप्राय है कि उन्हे असत् मार्ग से हटाकर सन्मार्ग मे प्रवृत्त कर देना। इसके विना आत्म-कल्याण कदापि सभव नहीं।

जयपुर, लाल भवन ६ मार्च १९७२

तामसिक वृति

: २ :

जीवन की तामसिक वृतिया शुष्क तृणपुज कही जा सकती है। यत्किंचित चिनगारी रूप निमित्त को प्राप्त कर ये वृतिया (तृण-पुज) विनाशकारी विकराल रूप को प्राप्त कर लेती हैं। जब तक जीवन मे जय-विजय की अहकार पोषिणी वृतियो का प्रभाव रहता है, तब तक सात्त्विक वृतियों का उदय होना असम्भव है। तामसिक वृतियां अनुरूप मे उपस्थित व उद्‌भूत होकर विनाश का विस्फोट कर देती हैं। फलतः जीवन मे स्थिरता के स्थान पर चंचलता आदि विकारों का प्राबल्य हो जाता है। (यह मेरी आज की अनुभूति है।)

जयपुर, लालभवन दि० ७ मार्च १९७२

क्षण का उपयोग

: ३ :

प्रत्येक क्षण नवजीवन का सर्जन कर सकता है, अपेक्षा है उसके सदुपयोग की। इसीलिए सर्वद्रष्टा प्रभु महावीर ने अपनी अमोघ उद्घोषणा मे यह पावन स्वर ध्वनित किया था "खण जाणाहि पडिए"। विवेकशील और विद्वत् शिरोमणि वही व्यक्ति है, जो क्षण अर्थात् समय के मूल्य को जानता है और उसका सदुपयोग करता है।

आज का मानव समय का अपव्यय अधिक कर रहा है। यही कारण है कि वह अपने इष्ट को प्राप्त नहीं कर पा रहा है। इसके लिए समय की उपयोगिता का अनुशीलन करना अत्यन्तावश्यक है। अतीत के क्षणों से प्रेरणा लेकर अपने वर्तमान का निर्माण करने से ही भविष्य उज्ज्वल हो सकता है।

जयपुर, लाल भवन दि० ८ मार्च १९७२

क्षमा की अपूर्व साधना

: ४ :

'क्षमा' वडा ही प्रिय शब्द है। क्षमाशील साधक ही अपने कर्त्तव्य-क्षेत्र मे सक्षम होता है। हमारे आचार्यों ने घोषणा की है कि "क्षमा वीरस्य भूषणम्" क्षमा वीरों का भूषण है। आज जयपुर में श्री आचार्यप्रवर के उपदेश ने यह प्रत्यक्ष रूप से सिद्ध कर दिया कि क्षमा का अस्त्र एक आदर्श मानस्तम्भ होता है। क्षमा से व्यक्ति की प्रतिष्ठा घटती नहीं, अपितु वढती ही है। जयनुर सघ के कुछ वरिष्ट सदस्यों ने इसे आज जीवन मे साकार रूप देकर अपनी प्रतिष्ठा को और भी उज्ज्वल कर लिया है। सभी स्यानो के सघ यदि इसी प्रकार "क्षमा धर्म" पालन करने मे तत्पर हो जायें तो आत्म-कल्याण का मार्ग शीघ्र ही प्रशस्त हो सकता है।

जयपुर, लाल भवन दि० ६ मार्च १६७२

आदर्श की अनुरूपता

: ५ :

'आदर्श' मानव जीवन के लिए प्रेरणा-स्तम्भ होते हैं। किसी भी आदर्श के अनुरूप जीवन बनाने के लिए सबसे पहले आदर्श के यथा तथ्यरूप को समझना आवश्यक होता है। आज आदर्शों का शोरगुल मचाने वाले अनेक व्यक्ति मिलते हैं किन्तु तदनुरूप जीवन सर्जन करने वाले कोई विरले ही होते हैं।

अपने आदर्श मे जब तक पूरा विश्वास नहीं हो जाता, तब तक साध्य की ओर गति नहीं हो पाती है। इसी प्रकार आंतरिक जीवन मे जब तक कृत्रिमता है, तब तक न तो आदर्श को समझा जा सकता है और न उसका अनुसरण ही किया जा सकता है।

आदर्श नगर दि० १० मार्च '१९७२

मन का नियंत्रण

: ६ :

मन की गति को नियत्रित करने के लिए सर्वप्रथम इन्द्रिय-चपलता को समझना और उसे नियत्रित करना आवश्यक है। मनः साधको में अधिकतर मनः स्थिरता के लिए 'हठ्योग' का आश्रय लिया जाता है। यही कारण है कि इन्द्रिय-चपलता और मानसिक अस्थिरता वहाँ भी घटने के स्थान पर बढती चली जा रही है।

जयपुर, वजाज नगर दि० ११ मार्च १९७२

•

नियमित जीवन-उपयोगी नियम

: ७ :

मानसिक स्थिरता के लिए सर्व श्रेठ उपयोगी नियम है-जीवन को पूर्ण नियमित वनाना। जिस व्यक्ति का जीवन-व्यवहार अस्तव्यस्त है, वह कदापि मानसिक स्थिरता की सिद्धि प्राप्त नही कर सकता। अतः इसके लिए जीवन को नियमित वनाना अत्यावश्यक हैं।

जयपुर, वजाज नगर दि० १२ मार्च १९७२

परदोष दर्शन

: ८ :

दूसरों की ओर देखनेवाला अपनेआपको नहीं देख पाता है। 'परदोष-दर्शक' स्वय का सुधार कम ही कर पाता है। पराये दुर्गुणों का चिंतन स्वय को दुर्गुणी बना देता है। इससे जीवन का विकास रुक जाता है।

आत्मीय दृष्टि का भी यही सुझाव है कि जब तक 'स्व' की ओर दृष्टि नहीं जायेगी तब तक जीवन गतिशील नहीं हो सकता। अतः पर' को देखने से पहिले अपनी ओर झाक लेना आवश्यक है। जीवन-विकास का यही प्रथम सोपान है। अपने दुर्गुणों को देखने से. उनसे बचने का उपाय भी सुलभ हो सकता है।

सांगानेर गौशाला दि० १३ मार्च १९७२

मन का नियंत्रण

: ६ :

मन को गति को नियन्त्रित करने के लिए सर्वप्रथम इन्द्रिय-चपलता को समझना और उसे नियन्त्रित करना आवश्यक है। मनः साधको में अधिकतर मनः स्थिरता के लिए 'हठ्योग' का आश्रय लिया जाता है। यही कारण है कि इन्द्रिय-चपलता और मानसिक अस्थिरता वहाँ भी घटने के स्थान पर बढती चली जा रही हैं।

जयपुर, वजाज नगर दि० ११ मार्च १९७२

•

नियमित जीवन-उपयोगी नियम

: ७ :

मानसिक स्थिरता के लिए सर्व श्रेष्ठ उपयोगी नियम है-जीवन को पूर्ण नियमित वनाना। जिस व्यक्ति का जीवन-व्यवहार अस्तव्यस्त है, वह कदापि मानसिक स्थिरता की सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। अतः इसके लिए जीवन को नियमित वनाना अत्यावश्यक हैं।

जयपुर, वजाज नगर दि० १२ मार्च १९७२

असंयमित दृष्टि, एक समस्या

: १० :

आज के भौतिक युग मे दृष्टि-सयम भी एक बहुत बडी समस्या है। किसी सुन्दरतम वस्तु को देखकर दृष्टि असयमित हो उठती है। वास्तव मे यही असयमित दृष्टि मानव को पतनोन्मुख बना रही है। किन्तु सुदीर्घकाल से मानव दृष्टि का दास बना हुआ है। अतः वह विना तपः साधनामय अभ्यास के, दासत्व से स्वामित्व-पद को प्राप्त नहीं कर सकता। यह अभ्यास अत्यन्त कठिन है परन्तु इसके बिना मानसिक चपलता पर विजय प्राप्त नहीं की जा सकती फिरभी निरन्तर अभ्यास अनुशीलन एव अध्यवसाय से साधना-पथ पर बढता हुआ मानव एक दिन अपने लक्ष्य की सिद्धि प्राप्त कर सकता है, यह निर्विवाद रूप से सत्य है।

चाकसू, दिगम्बर जैन मन्दिर दि० १५ मार्च १९७२

अहिंसा की मौलिकता

: ११ :

अहिंसा की पृष्ठभूमि विचारो पर निहित है। आज का मानव अहिंसा के कलेवर को लेकर उसकी मौलिकता को भूलता जा रहा है। स्वाभाविक रूप से भले ही हिंसा न हो रही हो, परन्तु विचारो मे अहिंसा का मौलिक स्वरूप नही है तो वह पूर्ण अहिंसक नहीं वन सकना। इसी लिए 'महावीर-दर्शन' मे प्रवृति और निवृति दोनों का चिंतन दिया गया है। मानसिक अहिंसा की अवहेलना के कारण हो मानसिक दुष्प्रवृतियो का वेग वढता चला जा रहा है।

कोथुन, दि० १६ मार्च १९७२

त्रुटियों पर रोक

: १२ :

अनीति की चिनगारी जब जीवन के किसी भी भाग से छू जाती है तो वह भयकर ज्वाला का रूप ले लेती है। ज्ञानपूर्वक किसी भी अनीति पर चिंतन करने से जीवन मे एक अभूतपूर्व परिवर्तन आजाता है। यह परिवर्तन ही आत्मा को अपने लक्ष्य की ओर प्रेरित करने लगता हैं। दोष को जब वारबार 'रोका-टोका' जाता है तो वह तग होकर जीवन से भाग खड़ा होता है। किसी अपेक्षा से यद्यपि त्रुटि को स्वाभाविक माना गया है, फिर भी उसका सम्यक् चिन्तन तो होना ही चाहिए। तभी उसका मूलतः निवारण हो सकेगा और जीवन उन्नति की तरफ अग्रसर होने लगेगा।

निवाई दि० १७ मार्च १९७२

धैर्य-परीक्षण

: १५ :

जीवन के धैर्य की परीक्षा निमित्त मिलने पर ही होती है। जबतक कोई व्यक्ति वचन आदि के माध्यम से मार्मिक प्रहार नहीं करता है, तबतक यह विदित होना कठिन है कि जीवन मे धैर्य, क्षमा, और सहिष्णुता का कितना प्रभाव विद्यमान है। पानी स्वभावतः शीतल है, वर्तन मे भरा हुआ है। यह कबतक ? जबतक कि वह आग पर नहीं चढाया गया है। आग का निमित्त पाकर भी यदि वह शीतल ही रहता है तो यह उसका अलौकिक चमत्कार होग । किसी की धैर्य-परीक्षा के लिए यह उदाहरण पूर्णतया घटित है।

टोंक :— दि० २० मार्च १९७२

मान और अपमान

: १६

मान और अपमान की खाई को लांघना सबके वश की बात नही है। इन दोनो विभावों के आकर्षण मे आकर मनुष्य 'त्रिशंकुवत्' कही का भी नहीं रहता है। बात चाहे कैसी भी हो परन्तु मेरी बात ऊँची रहनी चाहिए, जब मानस मे यह भावना घर कर जाती है तो फिर लाखों रुपये पानी की तरह वहा दिये जाते है। कभी कभी तो जीवन को भी दाव पर रख दिया जाता है। मानापमान की भूमिका निभाने के लिए ही तो यह सब कुछ किया जाता है। परन्तु ऐसा करने से जीवन का उभार रुक जाता है। जीवन नीचे की ओर झटका खाने लगता है, परिणामतः एक दिन नीचे ही गिर पडता है। इस स्थिति पर विजय पाने के लिए 'समतापूर्वक' चिन्तन करना चाहिए। तभी जीवन सुखी वन सकता है।

टोक :— दि० २१ मार्च १९७२

जा जा वच्चइ रयणी

: १७ :

काल के अनवरत प्रवाह मे वहते हुए काल का मूल्यांकन करना अत्यन्त कठिन सा प्रतीत होता है। व्यक्ति सोचता है कि कुछ क्षण और सुस्तालू, अमुक कार्य मे अभी थोडा सा ही समय व्यतीत हुवा है। किन्तु यह वहुत कम सोचा जाना है कि 'क्षण' कितना मूल्यवान है। क्षण-क्षण मिलकर ही घड़ी, दिवस और पक्ष वनते है। जिन क्षणो को व्यर्थ ही खोदिया जाता है, उनसे वडी से वडी सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। जो समय अतीत के गर्भ मे चला जाता है, वह फिर कभी वापिस लौट कर नहीं आता है। इसीलिए शास्त्र मे कहा है कि 'जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियतइ' अर्थात् जो रात्रि व्यतीत हो जाती है, वह फिर मुडकर नहीं आती। यह एक प्राकृतिक नियम है। इस उक्ति के वास्तविक मर्म को समझने मे ही जीवन की सार्थकता है।

टोक : दि० २२ मार्च १९७२

अनुकरणः अन्धानुकरण

: १८ :

व्यक्ति स्वभावतया अनुकरण प्रिय होता है। ज्ञानियो की दृष्टि में विवेकपूर्ण अनुकरण ही सर्वतोभावेन कल्याणकारी होता है। अतः विवेक-दीपक का सहयोग नितान्तावश्यक है। अविवेक से किया गया अनुकरण प्रायः हानिप्रद होता है। इस लक्ष्य को जानते हुए भी कतिपय मनुष्य विवेक-दीपक का आश्रय न लेकर अन्धानुकरण द्वारा अपने जीवन को दुःखमय बनाते रहते है।

टोंक :— दि० २३ मार्च १९७२

शान्ति का स्रोत

: १६ :

आज का मानव शान्ति तो चाहता है, परन्तु शान्ति के मूल उद्गम स्थान की ओर प्रायः नही देखता है। बहुत से लोग सत्ता और सम्पत्ति को शान्ति का निर्भर मानते है, किन्तु इनके प्राप्त होने पर भी शान्ति प्राप्त नही हो पाती है। वस्तुः तत्त्व तो यह है कि शान्ति का अजस्त्र स्रोत विनय और सन्तोष मे है। यदा-कदा जीवन में जो अशान्ति दीख पडती है, उसका मूल कारण विनय का अभाव एव असन्तोष ही है। जब तक मानव ज्ञाना-म्बुधि मे डुबकी नही लगायेगा, तब तक उसे विनय और सन्तोष रूपी रत्नो की प्राप्ति नही होगी। अतः शान्ति प्राप्त करने के लिये विनय और सन्तोष-रत्न हस्तगत करने चाहिए।

टोंक :— दि० २४ मार्च १६७२

त्रुटि का प्रकटीकरण

: २० :

किसी भी त्रुटि का होना कोई असभव बात नहीं है किन्तु त्रुटि को छिपाने वाला सदा सशकित और भयाक्रान्त रहता है। त्रुटि करते समय उतना भय नही रहता, जितना कि उसके प्रकट होने मे। व्यक्ति अपने दोषों को छिपाने के लिए अनेक प्रयत्न करता है, किन्तु ऐसा करने से उसका जीवन भय की ज्वाला मे झुलसने लगता है। अतः अपनी त्रुटि का प्रकटीकरण अथवा स्वीकृति ही भय-मुक्ति का सर्वोत्तम और सुगम मार्ग है।

टोक :— दि० २५ मार्च १९७२

अनधिकार चेष्टा

: २१ :

मानव को अपनी अधिकार-मर्यादा का सतत ध्यान रखना चाहिए। अनधिकार चेष्टा करने वाला सदैव सक्लेश का भाजन बनता है। क्योंकि वह अपने जीवन पर अपनी इस आदत के कारण व्यर्थ का भार ढोता हुआ दुःखी बना रहता है।

टोक :— दि० २६ मार्च १९७२

महावीर जयन्ती

: २२ :

आज का पावन-दिवस परम पवित्र सत्संदेश लेकर उपस्थित हुआ है। धर्म-धौरेय युग-पुरुष प्रभु महावीर ने अपनी अमृतोपम उपदेशमयी वाणी से जनमानस के अज्ञानान्धकार को हटाया था। अपने दिव्य-सन्देश से जन-मानस को शान्ति-धारा से आप्लावित कर उन्होने अपूर्व आध्यात्मिक मार्ग की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा प्रदान की। उन्होने हमे वतलाया कि मानव मात्र में अलौकिक अध्यात्म शक्ति विद्यमान है। व्यक्ति अपने शाश्वत तपोमय साधना-निरत जीवन से उस शक्ति को जागृत कर सकता है।

युगो से पूर्व प्रदत्त इस सन्देश को आज हम भूल वैठे है। इसलिए जयन्ती-दिवस उतना उपयोगी नहीं हो पारहा है। जिस दिन हम महावीर के सन्देश के आलोक मे उस दिव्य शक्ति का प्रकाशन कर पायेगे, वह दिन ही वास्तविक जयन्ती का दिन होगा।

टोंक :— दि० २७ मार्च १९७२

प्रवृति का प्रभाव

: २३ :

अपनी इच्छा के प्रतिकूल प्रवृति मानव को सदा असह्य होती है किन्तु दूसरो के प्रतिकूल प्रवृति करते समय वह इस तथ्य को भूल जाता है कि मेरे समान इन्हे भी तो मेरा वर्ताव असह्य होता होगा। व्यक्ति स्वय का सुख तो चाहता है परन्तु दूसरों के सुख की किंचित् भी चिन्ता नहीं करता है। उसकी यह स्थिति अत्यन्त चिंतनीय है। सुख तो सुख देने से ही मिल सकता है। किसी को दुःख देकर कभी सुख नही मिलता है। जो अपने लिए प्रतिकूल है, वैसा ही कार्य दूसरो के लिए भी प्रतिकूल हो सकता है। अतः शास्त्रकारों के इस सुभाषित का सदा ध्यान करना चाहिए :—

आत्मनः' प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।

अर्थात् जो कार्य अपनी आत्मा के लिए प्रतिकूल है वह कार्य दूसरों के लिए कदापि नहीं करना चाहिए।

टोंक :— दि० २८ मार्च १९७२

आत्म चिन्तन

: २४ :

अपनी दश वर्ष की साधना के अन्तराल मे प्राप्त उपलब्धियो पर जब दृष्टिपात करताहूँ तो लगता हैं कि अभी तक 'प्राप्य' पर्याप्त दूर है। साधना का आन्तरिक स्वरूप अभी तक अनुभवगम्य नहीं हो सका है, यही इसका मुख्य कारण प्रतीत होता है। वैसे गृहस्थ-जीवन की अपेक्षा साधु-जीवन मे आनन्द की उपलब्धि विशिष्ट होती है परन्तु अलौकिक शान्ति की अनुभूति अभी नहीं हो पाई है, उसे पाने के लिए मेरी 'आत्मा' निरन्तर साधना की आन्तरिक भूमिका मे प्रवेशकर 'स्व' मे प्रतिष्ठित हो जावे, इस ओर चिन्तनशील हूं।

मेदवास :— दि० २६ मार्च १९७२

साध्य और साधना

: २५ :

साधना सदा साध्य की सिद्धि के लिए होती है। इसके लिए साधना का साध्य के अनुरूप होना अत्यन्तावश्यक है। आम का रस-पान करने के लिए आम के बीज ही लगाने होंगे। नीम का वीज वोकर आम्ररस कदापि प्राप्त नही हो सकता। वात ठीक भी है :

"यादृशी साधना यस्य सिद्धि र्भवति तादृशी"

जिसकी जैसी साधना होती है, उसे वैसी ही सिद्धि प्राप्त होती है। आज का मानव इससे कुछ विपरीत दिशा मे चल रहा है। वह चाहता तो शान्ति है, परन्तु कार्य (साधना) अशान्ति के कर रहा है। यही कारण है कि वह जो कुछ पाना चाहता है, उसे अभी तक प्राप्त नही कर पाया है। कोई भी व्यक्ति यदि उपयुक्त पक्तियो का स्वय के लिए सही चिन्तन करे तो वह बहुत कुछ पा सकता है। अपनी कमी का अनुभव उसे पूर्ण करने की प्रेरणा देता है।

भरणी :— दि० ३० मार्च १९७२

सहज भाव

: २६ :

वैभाविकता के सामने कभी कभी जीवन की स्वाभाविक प्रवृतियाँ गुम हो जाया करती हैं। जब व्यक्ति एकान्त निर्जन स्थल मे एकाकी बैठता है, उस समय उसकी स्वाभाविक हरकतें कुछ और ही ढग की होती है किन्तु ज्योही किसी के आने की आहटमात्र सुनी कि वह सहज प्रकृति, कृत्रिमता की ओर मोड ले लेती है। वास्तव मे चिन्तन किया जाय तो सहज प्रवृति मे जो आनन्द और प्रमोद भाव था या होता है, वह कृत्रिमता मे विलुप्त सा हो जाता है और साथ ही जीवन में दो नीतियों के सस्कारो की छाप छोड जाता है। अतः यदि वास्तविक शान्ति मे रमण करना है तो सहजता का वरण श्रेयकर सिद्ध होगा और तभी जीवन नैतिक एव धार्मिक बन पायेगा।

दूनी :— दि० ३१ मार्च १९७२

इच्छा परिणाम

: २७ :

व्यक्ति अपनी निःसीम इच्छाओ की दिशाओ मे उडाने भरता है और सोचता है कि मैं अपनी इच्छाओ की पूर्ति अमुक समय तक कर लूँगा किन्तु एक आकाक्षा की पूर्ति होते ही अनेकानेक नवीन इच्छायें जागृत होती हुई चली जाती हैं। अतः यदि शान्ति पाना है और इच्छाओं की पूर्ति करना है तो उन्हे परिमित बनाकर सहज-प्राप्ति मे सन्तोष करना होगा।

दूनी :— दि० १ अप्रेल १९७२

●

काम विजय

: २८ :

व्यक्ति वाह्य-रिपुओ पर विजय प्राप्त करने के लिए अथक प्रयास करता है किन्तु सभी शत्रुओ के राजा काम पर अगर विजय प्राप्त करली जाए तो वाह्य-रिपु अपने आप पलायित हो जायेंगे यह विजय, जीवन की सबसे सच्ची और ऊँची विजय होगी।

दूनी :— दि० २ अप्रेल १९७

अहं से आत्म-पतन

: २६ :

आत्म-शान्ति के लिए अपने अहकार को समेटकर विजय-मार्ग पर चलना आवश्यक माना गया है। व्यक्ति जब तक 'अह' के मदोन्मत्त गज पर आरूढ रहता है तब तक वह शान्ति की प्रथम सीढी पर भी अपना चरण नहीं बढा पाता। इस स्थिति को भलीभांति समझते हुए भी आत्मा न मालूम अपने आपको इतनी उच्च श्रेणी पर क्यो मानता है ? कभी कभी तो अह कल्पना की उडान यहाँ तक पहुच जाती है कि व्यक्ति बिना डोर की पतग की भाति इतस्ततः खोया हुआ सा भटकता है। अह की मात्रा मे व्यक्ति अपने आपको महान् एव अपने से महत्तम व्यक्तित्व को भी बहुत हीन समझने लग जाता है। वह गाडी के नीचे चलने वाले कुत्ते की तरह सोचता है कि मेरे बिना कार्य चल ही नहीं सकता किन्तु चिन्तन जब मोड खाता है तो प्रतीत होता है कि उसके ये विचार घोर पतन के कारण हैं।

डूनी :— दि० ३ अप्रेल १६७२

हंस दृष्टि

: ३० :

व्यक्ति, पर की ओर देखता है और सोचता है कि वह व्यक्ति ऐसा है, वैसा है, किन्तु स्वय के जीवन पर बहुधा दृष्टिपात नहीं करता। यदि स्वय को विवेकपूर्ण पैनी दृष्टि से देखने का अभ्यास कर लिया जाय तो स्वय में ही सख्यातीत त्रुटियो का साम्राज्य परिलक्षित होगा और जब स्वय के जीवन की ऐसी स्थिति सामने आयेगी तो दृष्टि, पर-दोष-ग्राही न रहकर हँस की तरह गुणग्राही होगी। जब मैं स्वय की ओर दृष्टिपात करता हूँ तो मुझे अपने जीवन मे इस दृष्टि की अत्यन्त न्यूनता परिलक्षित हो रही है। सद् गुरुदेव की निःसीम कृपा-दृष्टि से जीवन शनैः शनैः गुणग्राहक बनकर महत्तम बन सकेगा ऐसा विश्वास है।

आवा :— दि० ४ अप्रेल १९७२

कर्त्तव्य और प्रतिष्ठा

: ३१ :

प्रतिष्ठा की अदम्य लिप्सा मानव मस्तिष्क को सदा विकृति के गहरे गर्त की ओर खीचकर ले जाया करती है। मनुष्य तुच्छ एव अस्थाई प्रतिष्ठा-प्राप्ति के लिए भी अत्यन्त प्रियतम वस्तु के उत्सर्ग के लिए तैयार हो जाता है। कभी कभी तो अपने नयन-सितारे वात्सल्य की प्रतिमूर्ति प्रिय पुत्र को भी प्रतिष्ठा की बलि-वेदी पर न्यौछावर कर देता है। इसे यह विदित नही हो पाता कि "स्वपुत्र घातेन नृपतित्व लिप्सा" कभी सफल नहीं हो सकती है। तथ्य यह है कि वास्तविक प्रतिष्ठा या कीर्ति तो अपने कर्त्तव्यों से बिना किसी कांक्षा के ही समुपलब्ध हो जाती है। इसके लिए प्रयत्न करना अपेक्षित नहीं।

आवां :— दि० ५ अप्रेल १९७२

इच्छाएँ

: ३२ :

अन्तर्मन में जब कोई भी भौतिक आकांक्षा जागृत हो जाती है तो मन उसी के चिंतन मे विलुप्त हो जाता है। जबतक कि आकांक्षा की प्रपूर्ति न हो जाये, इच्छित वस्तु की प्राप्ति के लिए वह हर सभव या असभव प्रयत्न करने के लिए तैयार हो जाता है। किन्तु विवेकपूर्ण चितन करने पर बोध होता है कि यह प्रक्रिया मनुष्य को विपरीत गति देनेवाली है क्योंकि "इच्छाहु आगास समा अणंतया" इस उक्ति के अनुसार इच्छा कभी भी प्रपूरित नहीं होती है।

आवां :— दि० ६ अप्रेल १६७:

शाब्दिक अध्ययन और अहं का 'ज्वर'

: २३ :

वीतराग सिद्धान्तो की गहनता मे अवगाहन किये बिना तत्त्व को पूर्णतः नही समझा जा सकता। प्रायः शास्त्रों का शाब्दिक अध्ययन करके ही व्यक्ति समझ लेता है कि मैने अच्छा अध्ययन कर लिया है। अपनी इस अहकार जागृत करनेवाली वृति के कारण उसे अपने ज्ञानी होने का भ्रम हो जाता है। परन्तु वही व्यक्ति सयोग पाकर ज्यों-ज्यो श्रुतावधान की गहराई मे पहुचता है, उसे इस तथ्य का आभास होता जाता है कि उसका ज्ञान अत्यल्प है और अभी उसे बहुत कुछ जानना है। नीतिकार भर्तृहरि का यह श्लोक यहा मार्गदर्शन देता है :—

यदा किञ्चिद्‌ज्ञोऽह द्विपइव मदान्धः समभवम्
तदा सर्वज्ञोस्मीत्य भवदवलिप्त मम मनः
यदा किञ्चिन् किञ्चिद् बुध जन सकाश परिगतः
तदा मूर्खो स्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः

सीतापुर :— दि० ७ अप्रेल १९७२

आदर्श का लाभ

: ३१

किसी भी जीवनोपयोगी अ
हमारे जीवन को एक नई प्रेरणा और नई दिशा प्रदान कर सकता है। आदर्श चाहे प्राचीन हो अथवा नवीन, उसका अपना एक निजी प्रभाव होता है। उसके कारण हमारा जीवन उसकी वास्तविकता की ओर आकर्पित होता है। आकर्पित होते होते एक दिन हम स्वय तदनुरूप आकर्पण के केन्द्र बन जाते है। यही हमारे जीवन की सफलता है। इस आकर्पक की अनुरूपता को पा लेना सबसे बडी प्राप्ति है। यह हमारी साधना का प्रतिफल साध्य की सज्ञा ले सकता है। भगवान महावीर के आदर्श जीवन की झांकियां हमारे सन्मुख हैं। आवश्यकता है आज उन्हे अपने जीवन मे उतारने की, उन पर निष्ठा जमाकर चलने की।

बून्दी का कोठडा :— दि० ८ अप्रेल १९७२

मौन एक अभ्यास

: ३५ :

जीवन को आदर्श एव महान् बनाने के लिए अल्प भाषण अथवा मौन सुन्दर अवलम्बन है परन्तु सामान्यतया जिह्वा की वाचालता और मुखरता पर शीघ्र विजय पाना कठिन है। इसके लिए चिंतनपूर्वक अल्प भाषण अथवा मौन का सतत अभ्यास अपेक्षित है।

घोवडा :— दि० ९ अप्रेल १९७२

●

उन्नति-अवनति

: ३६ :

उन्नति और अवनति जीवन-यात्रा के दो पद है, जो आगे पीछे होते रहते हैं। जीवन की पगडडी पर गति करते समय कभी उन्नति का तो कभी अवनति का चरण आगे बढ जाता है। साधक के लिए यह बाह्य उन्नति-अवनति का पदक्षेप कोई महत्त्व नहीं रखता। वह तो अपने अन्तर की भूमिका पर समत्व भाव मे आत्मोन्मुख बना रहता है और बाहर के उन्नति-अवनति के पदाक्षेप से प्राप्त अनुभवों को अपने आत्मभडार मे सयोजित कर कुछ न कुछ ग्रहण करता हुआ अपने लक्ष्य की सिद्धि करता है।

बून्दी :— दि० १० अप्रेल १९७२

क्रोध और अग्नि

: ३७ :

अग्नि का एक छोटा सा कण ही वडे से बडे घास के ढेर को क्षण भर में भस्मसात कर देता है। उसका प्रभाव यहां तक आकर राख के रूप मे शान्त हो जाता है। परन्तु क्रोध की अग्नि की एक चिनगारी चिर सचित सद्गुणो को तो भस्म करती ही है, इसके अतिरिक्त हमारे भविष्य के सुखो को भी भुलसा देती है। इसका प्रभाव कई जन्मों तक जलाता रहता है। द्रव्य अग्नि से हुई हानि को तो किसी न किसी प्रकार पूरा कर भी लिया जाता है परन्तु इस अग्नि के द्वारा हुई कमी को पूरा करने में कभी कभी कई जीवन लग जाते हैं। इस क्रोध की चिनगारी का शमन शान्ति और क्षमा के जल से होता है। अतः प्रत्येक विपरीत परिस्थिति मे भी शान्ति से काम लेना चाहिए।

बूंदी :— दि० ११ अप्रेल १९७२

पूर्वदशा का चिंतन

: ३८ :

उच्च स्थिति पा लेने पर अपने पूर्व जीवन को विस्मृत करना 'अहं' को प्रोत्साहन देने मे सहायक होता है। इस स्थिति मे 'सोऽहं' का चिंतन विशेष लाभप्रद हो सकता है। अपनी गत हीनावस्था का स्मरण रखने से वर्तमान का अभिमान शान्त होता है। लघु का विचार करने से 'असीम' का बोध-जागृत होता है। इससे भावना की सकीर्णता समाप्त हो जाती है। "वसुधैव कुटुम्बक" का उदार सिद्धान्त जीवन मे आ जाता है। यहां आकर पूर्व चिंतन मे 'परतत्व' का दर्शन होता है।

बूंदी :— दि० १२ अप्रेल १९७२

परिणाम-विचार

: ३६ :

परिणामो की उपेक्षा में किया जानेवाला कर्म 'अधे तमसि निमज्जति' का रूप ले जाता है। जब ऐसा करते करते पतन की पराकाष्ठा हो जाती है तो स्थिति पर नियत्रण अपने वश से वाहर हो जाता है। अतः कर्म के परिणाम का विचार अवश्य रहना चाहिए। इससे शुभ-अशुभ दोनों का विवेक रहेगा। अशुभ कर्म से बचे रहने की भावना सफल होगी और अविवेक के दुःखद परिणाम सामने नहीं आ पायेंगे। शुभ आचरण से सुखद कर्म की ओर प्रवृति मोड लेगी। जीवन उन्नत होगा और अपने चरम लक्ष्य तक पहुचने में सफल हो सकेगा।

वूदी :— दि० १३ अप्रेल १९७२

शक्ति का संगोपन

: ४० :

शक्ति के सगोपन मे दो मुख्य कारण होते हैं :— एक प्रमत्त-अवस्था और दूसरा निरभिमानता। इसमे पहला पतन-मूलक है और दूसरा उन्नति का प्रतीक। पहला सुगम है और दूसरा कष्ट-साध्य। साधना के क्षेत्र मे यह दूसरा ही प्रशस्त माना गया है। इसके द्वारा विनयभाव का उदय होता है और सत्य का साक्षात्-कार होने लगता है। जीवन मे इस शक्ति को लेकर 'सदुपयोग' नाम के तत्त्व का सफल पदार्पण होता है। अतः इस ओर मुहुः मुहुः चिंतन करना चाहिए।

बूदी :— दि० १४ अप्रेल १९७२

समस्या का समाधान

: ४१ :

समस्याओ के समाधान अपने आपमे सुनिश्चित होते है। समस्याओं के विकराल रूप को देखकर हमे हतोत्साहित नही होना चाहिए। पुरुषार्थ प्रत्येक समस्या की अचूक दवा है। घबराहट अथवा चिन्ता करने से मनःस्थिति दूषित होती है। इससे सुलझाव धूमिल हो जाता है। उलझन में उलझे रहना किसी भी दिशा मे उचित नही होता, अपितु उलझन को सुलझाने का सही प्रयत्न ही प्रगति का सूचक है। इसके लिए 'सन्मार्ग दर्शक' की आवश्यकता रहती है।

तालेड़ा :— दि० १५ अप्रेल १९७२

अतिभार—अतिचार

: ४२ :

भार प्रत्येक स्थिति मे भार ही रहता है। उसे चाहे आप मानव पर लादें अथवा पशु पर। जब इसके साथ अति शब्द जुड जाता है तो इसकी वेदना असह्य हो जाती है। प्रत्येक प्राणी अपनी शक्ति के अनुसार ही 'भारवहन' कर सकता है। अतः व्यक्ति के सामर्थ्य को देखकर ही भार अथवा कार्यभार सौपना लाभप्रद होता है। अतिभार एक अतिचार है, जो जीवन की सुन्दर स्थिति को विकृत कर देता है।

कोटा :— दि० १६ अप्रेल १९७२

दृष्टि द्वार के दो किवाड़

: ४३ :

'पलक' दृष्टि द्वार के दो किवाड़ हैं। किवाडो का उपयोग घर के भीतर की वस्तुओं को सुरक्षित रखने की दृष्टि से किया जाता है। किवाड बन्द हो तो चोर आदि का भय नहीं रहता। सृष्टि के बाह्य दृश्य आंखो को प्रलोभित करके भीतर घूसने का बार-बार प्रयत्न करते हैं। ऐसी स्थिति मे 'पलकों' का किंचित् भी सदुपयोग कर लिया जाय तो कोई भी प्रलोभजन्य विकार भीतर नहीं घुस पायेगा, हमारा अन्तर्धन सुरक्षित रहेगा, चिंतन को एकान्ततः सुव्यस्थित दशा प्राप्त होगी और आत्मतत्र निश्चित रहेगा। इसके विपरीत यदि हम आत्म दुर्वलता को ढकने के लिए, दृष्टिचापल्य को छिपाने के लिए कृत्रिम उपायो या रगीन उपनेत्रादि उपादानो का सहारा लेते हैं तथा अपनी इस दुष्प्रवृति को दुनियां की दृष्टि से ओझल रखना चाहते है तो अज्ञानवश अपने मानस पर ही परदा डालते हैं।

कोटा :— दि० १७ अप्रेल १६७२

अतिभार—अतिचार

: ४२ :

भार प्रत्येक स्थिति मे भार ही रहता है। उसे चाहे आप मानव पर लादें अथवा पशु पर। जब इसके साथ अति शब्द जुड जाता है तो इसकी वेदना असह्य हो जाती है। प्रत्येक प्राणी अपनी शक्ति के अनुसार ही 'भारवहन' कर सकता है। अतः व्यक्ति के सामर्थ्य को देखकर ही भार अथवा कार्यभार सौपना लाभप्रद होता है। अतिभार एक अतिचार है, जो जीवन की सुन्दर स्थिति को विकृत कर देता है।

कोटा :— दि० १६ अप्रेल १९७२

दृष्टि द्वार के दो किवाड़

: ४३ :

'पलक' दृष्टि द्वार के दो कित्राड है। किवाडो का उपयोग घर के भीतर की वस्तुओ को सुरक्षित रखने की दृष्टि से किया जाता है। किवाड वन्द हो तो चोर आदि का भय नहीं रहता। सृष्टि के बाह्य दृश्य आंखो को प्रलोभित करके भीतर घूसने का बार-बार प्रयत्न करते है। ऐसी स्थिति मे 'पलकों' का किंचित् भी सदुपयोग कर लिया जाय तो कोई भी प्रलोभजन्य विकार भीतर नही घुस पायेगा, हमारा अन्तर्धन सुरक्षित रहेगा, चितन को एकान्ततः सुव्यस्थित दशा प्राप्त होगी और आत्मतत्र निश्चित रहेगा। इसके विपरीत यदि हम आत्म-दुर्बलता को ढकने के लिए, दृष्टिचापल्य को छिपाने के लिए कृत्रिम उपायो या रगीन उपनेत्रादि उपादानों का सहारा लेते हैं तथा अपनी इस दुष्प्रवृति को दुनिया की दृष्टि से ओझल रखना चाहते है तो अज्ञानवश अपने मानस पर ही परदा डालते हैं।

कोटा :— दि० १७ अप्रेल १९७२

स्वाभाविकता

: ४४ :

स्वाभाविक प्रवृति का मूल सरल और सुगम होता है। जब तक जीवन मे स्वाभाविकता रहती है तबतक व्यक्ति निर्वैर और निर्भय बना रहता है। इसके विपरीत ज्योही जीवन मे वैभाविकता प्रवेश लेती है, वह पद पद पर शकित और भयाक्रान्त बनता जाता है। सुख और शान्ति स्वाभाविकता मे ही सभव है। अपने स्वभाव का बोध न होने के कारण ही हमारी स्थिति शोचनीय बनी हुई है। चाह के अनुरूप राह से ही सुख प्राप्त हो सकता है। आज का मानव चाहता तो सुख है और कार्य दुख के कर रहा है। उसका यह विपरीत आचरण ही उसके दुःखो का जन्मदाता है।

कोटा :— दि० १८ अप्रेल १९७२

विकार-विजय

: ४५ :

इन्द्रिय-चपलता से जीवन का जितना अधःपतन होता है, उतना शायद अन्य कारणों से नहीं होता। इन्द्रियासक्त व्यक्ति कभी कभी 'आत्महत्या' जैसे महापाप को भी कर बैठता है। इन्द्रिय-चाञ्चल्य से उत्पन्न मानसिक दुष्प्रवृतियां मानव के विकास को रोक देती है। इसलिए तीर्थंकर महावीर ने "एगे जिए जिए पञ्च" इस महावाक्य के द्वारा इन्द्रिय चपलता को जीतने पर विशेष वल दिया है किन्तु ध्यान रहे कि केवल इन्द्रियों के बाह्य रूप को नियन्त्रित करने से कार्य-सिद्धि होने वाली नहीं है। हमारा ध्यान मूल की ओर केन्द्रित रहना चाहिए। तभी हम समग्र दुष्प्रवृतियों पर विजय पा सकेंगे।

कोटा :— दि० १६ अप्रेल १६७२

प्रबल-सूत्र

: ४६ :

शशक की भान्ति आंख बन्द कर लेने से ससार की आंखें बन्द नही हो जाती। हमे कोई देखे या न देखे परन्तु हमतो अपने आपको प्रत्येक क्षण देखते ही रहते है। "नेत्र वक्त्र विकारेण लक्ष्यतेऽन्तर्गत मनः" की उक्ति के अनुसार और कुछ नही तो हमारे नेत्र और मुखाकृति हमारे सभी भावों को खोल ही देते है। इसलिए दोष-गुप्तिकरण की अपेक्षा स्पष्ट होकर रहना ही जीवन-सुधार का प्रबल-सूत्र है।

कोटा :— दि० २० अप्रेल १९७२

उभार का शमन

: ४७ :

कामुकता की उत्कटता मनुष्य की ज्ञान-शक्ति, विचार-शक्ति और तर्कशक्ति को निर्जीव सा बना देती है। ऐसी स्थिति मे मानसिक दासता जीवन पर छा जाती है। व्यक्ति अविवेकान्ध बन जाता है, तब वह 'इतोभ्रष्टः ततो भ्रष्टः" होकर ठोकरें खाने लगता है उसे कहीं भी चैन नहीं मिलता और उसकी यह दुष्प्रवृति निरन्तर उभार लेनी रहती है। बात कुछ ऐसी है कि जब हम नल खोलकर पानी के प्रवाह को हाथ से रोकते हैं तो पानी बडी तेजी के साथ ऊपर को उछलता है। यही स्थिति हमारी है। इन्द्रियां खुली हुई हैं और हम विकारों पर नियत्रण चाहते है ? वस्तुतः 'इन्द्रिय-सुनियोजन' ही इसका एक मात्र उपाय है।

कोटा :— दि० २१ अप्रेल १९७२

धीरता का अभाव

: ४८ :

प्रत्येक व्यक्ति अपने विकास का उत्कृष्ट रूप देखना चाहता है, वह इसके लिए भरसक प्रयत्न भी करता है। इतना सब कुछ होने पर भी जब 'अप्राप्ति' की ही स्थिति रहती है तो वह उसके लिए अत्यन्त अधीर हो उठता है। 'यह अधीरता जिसके द्वारा वह सब कुछ ही शीघ्रातिशीघ्र और एक साथ पाना चाहता है, उसके लिए बाधक बन जाती है, तभी तो ज्ञानी पुरुषों ने अधीरता को विकास के किवाड़ो को दृढता के साथ बन्द करनेवाली 'अर्गला' कहा है। ताला भी खुला हो, कुण्डी भी खुली हो, परन्तु कपाटों के पीछे अर्गला लगी हो तो प्रयत्न करने पर भी किवाड खुल नहीं पाते। इसी प्रकार विकास के सभी साधनों मे यदि धैर्य की कमी है तो वह विकास समुचित रूप नहीं ले पाता।

कोटा :— दि० २२ अप्रेल १९७२

योग्यता का अहम्

: ४९ :

अपनी कल्पना के ही मापदण्ड से जब अपनी योग्यता को मानव मापने लगता है, तब उसमे अहकार की भावना जागृत हो जाती है। उस भावना से प्रेरित होकर वह अपनी वास्तविक योग्यता से अधिक प्रतिष्ठा चाहने लगना है। यह प्रतिष्ठा की भूख इतनी उग्र हो जाती है कि उसकी पूर्ति न होने पर जीवन खिन्न हो जाता है। यहां तक कि उसी मिथ्या कपोल-कल्पित प्रतिष्ठा के स्वप्न भग को भी वह सहन नही कर पाता। ऐसी स्थिति मे स्वय के द्वारा उत्पन्न भ्रान्ति से स्वय भयभीत रहता है। अतः अपनी योग्यता से अपने आपको बहुत उच्च मान लेना ही भयकर भूल है।

कोटा :— २३ अप्रेल १९७२

साधना का पथ

: ५० :

साधना का क्षेत्र कटकाकीर्ण माना गया है, किन्तु ज्ञान और विवेक के पदत्राण पहनकर उस पथ पर सुगमता से चला जा सकता है। इस प्रगति मे हमे कोई वैभाविक कांटा नहीं चुभ सकेगा। हम सहजभाव से अपने 'गन्तव्य' तक पहुच जायेगे, जहा जाकर साधक, साधना और साध्य इन तीनों की अभिन्नता साकार हो जायेगी। हमारा प्रयास सतत रूप से चलना चाहिए। उसमे फल की इच्छा नहीं होनी चाहिए। "कर्मण्यैवाधिकारस्ते माफलेपु कदाचन" गीता की इस पक्ति पर आध्यात्मिक रूप से चिंतन करने से हमे अपनी वास्तविक स्थिति का पता चलता रहेगा।

कोटा :— दि० २४ अप्रेल १९७२

व्यवस्था और साधना

: ५१ :

मनुष्य अपनी जीवनसिद्धि के लिए अनेक क्रियायें करता है, अनेक प्रयोग अपनाता है। प्रयत्न करने पर भी जब उसे सफलता नही मिलती तो उसे बडा दुःख होता है। ऐसा क्यों? इस विषय का चितन करने से ज्ञात होगा कि अवश्य ही उसके प्रयत्न मे कोई कमी रही हुई है और वह कमी है—जीवन की अस्त-व्यस्तता। बिना 'ब्रेक' की साइकिल चल तो सकती है परन्तु सकटापन्न स्थिति मे वह नियन्त्रित नहीं हो सकती। सवार कहीं पर भी और किसी से भी टकरा सकता है। यही स्थिति जीवन की है। यदि उसमें नियन्त्रण की योग्यता नहीं है तो उसे किसी भी साधना मे लगाइये, कोई भी क्रिया कीजिए, 'टकराव' का भय प्रत्येक क्षण बना ही रहेगा। अतः जीवन की सफलता के लिए 'नियमितता' के गुण को अपनाना आवश्यक है। व्यवस्थाहीन साधना सदा-अव्यवस्थित रहकर असफल हो जाती है।

कोटा :— दि० २५ अप्रेल १९७२

मार्ग दर्शक की आवश्यकता

: ५२ :

नियंत्रण के विना जीवन के 'उन्नतम' पद पर पहुचना सबके वश की बात नहीं है। साधारणतया किसी भी उचित नियत्रण में जीवन को चलाना सफलता का द्योतक माना गया है। कुछ लोग स्वच्छन्द रहकर गति करना चाहते हैं, किन्तु पग-पग पर उन्हे मार्ग भूलने का भय बना रहता है। इसीलिए साधना के क्षेत्र में नियत्रण को आवश्यक माना है। इस 'आवश्यक' की ओर ध्यान रखना सबके लिए परमावश्यक हैं। तभी हमारी आत्मिक आवश्यकता की पूर्ति हो पायेगी।

कोटा :— दि० अप्रेल १९७२

नवीनता और प्राचीनता

: ५३ :

एकान्ततः नवीनता का अनुकरण कभी कभी अन्धानुकरण हो जाता है। नवीन चकाचौंध मे प्राचीन आदर्शों की उपेक्षा मनुष्य को अशुभ की ओर प्रेरित कर देती है। इसी प्रकार केवल प्राचीनता का व्यामोह भी व्यक्ति को मार्ग से भटका देता है। हमे नये और प्राचीन का समतापूर्वक चिंतन करना है। नवीनता मे प्राचीनता का दर्शन और प्राचीनता मे नवीनता का अनुभव ये दोनो दृष्टियां शुभ और मगलकारी हैं। एक ही पक्ष को खींचने से गुणग्राहकता का द्वार बन्द हो जाता है। प्राचीन आदर्शों की छाया मे पनपनेवाली नवीनता किसी भी व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के लिए वरदान सिद्ध हो सकती है।

कोटा :— दि० २७ अप्रेल १९७२

अस्थिर-मानस

५४

अस्थिर मानस का चितन भी अस्थिर ही होता है। "क्षणे रुष्टाः क्षणे तुष्टाः" की विचारधारा कभी सफल नही हो पाती। अपनी लक्ष्य सिद्धि के लिए शुद्ध सैद्धान्तिक भूमिका के अनुसार विचारो का स्थिरीकरण परमावश्यक है। आज का मनुष्य स्थिरता की सीमा को तोड़कर चरम सिद्धि पाना चाहता है, इसीलिए वह बीच में ही लटका रह जाता है। गन्तव्य स्थान का लक्ष्य स्थिर किये विना कोई व्यक्ति स्टेशन पर जाकर टिकट लेना चाहता है, तो टिकट लेगा कहा का? कभी कहीं का मांगेगा और कभी कहीं का। ऐसी स्थिति में उसे कहीं का भी टिकट प्राप्त नहीं होगा। जीवन मे अस्थिरता का परिणाम भी ऐसा ही है।

कोटा :— दि० २८ अप्रेल १९७२

उत्तरदायित्व

: ५५ :

अपने सिर पर योग्यता एव सामर्थ्य से अधिक जिम्मेदारियो को उठा लेनेवाला व्यक्ति सुख से नहीं रह पाता। अतः व्यक्ति को उतनी ही जिम्मेदारी ग्रहण करनी चाहिए, जितनी कि वह सफलतापूर्वक वहन कर सकता हो। ख्याति अथवा नाम कमाने के चक्कर मे पडकर अपनी योग्यता-सामर्थ्य से अधिक जिम्मेदारी यदि व्यक्ति ग्रहण करेगा तो वह जिम्मेदारी सफल नही हो सकेगी, फलतः यश के स्थान पर अपयश प्राप्त होगा।

पाटन :— दि० २९ अप्रेल १९७२

उत्तरदायित्व का पालन

: ५६ :

उत्तरदायित्व को स्वीकार करना जितना सरल है, उसका पालन करना उतना ही कठिन है। परन्तु व्यक्ति को प्राप्त जिम्मेदारी का पालन करना ही चाहिए। अन्यथा वह ऋण मुक्त नहीं हो सकता। जो व्यक्ति प्राप्त उत्तरदायित्व का पालन नहीं करता है, वह नीतिधर्म के अनुसार एक प्रकार से प्राकृतिक नियमो की चोरी करता है।

अरनेटा :— दि० ३० अप्रेल १९७२

उपलब्धि

: ५७ :

छोटी सी उपलब्धि को अपनी परिपूर्णता मान लेना अपूर्णता को प्रोत्साहन देना है। ऐसा करने से प्रगति के द्वार अवरुद्ध हो जाते है वास्तव मे जो अनुपलब्धि को ही उपलब्धि मान बैठता है, वह सत्य से कोसो दूर हो जाता है। वास्तविकता तो यह है कि उपलब्धि की कामना करना, अपने पुरुषार्थ को दूषित करने के समान है अतः अभी तक जो प्राप्त नहीं हुआ है, उसे प्राप्त करने का प्रयत्न कीजिए और जो प्राप्त है उसे वढाने-उन्नत करने का प्रयास अपनाइये। यही पूर्णता की ओर ले जानेवाली धारणा है।

कापरेन :— दि० १ मई १९

आतुरता

: ५८ :

प्रत्येक कार्य अपनी सहज-वृति से होना लाभप्रद माना गया है। किसी भी कार्य मे 'आतुरता' अधिकतर हानि ही पहुचाती है। जल्दबाजी मे कभी कभी ऐसे कार्य हो जाते हैं, जो मानव जीवन के लिए अत्यन्त हानिकारक माने गये हैं। निश्चित शुभ के लिए 'शुभस्य शीघ्रम्' की बात कही गई है किन्तु ऐसी स्थिति जीवन में कुछ कम ही आती है। अल्पज्ञता के नाते अनिश्चितता अधिक रहती है। इसीलिए प्रत्येक कार्य को विवेकपूर्वक करने की व्यवस्था दी गई है। आतुरता मे विवेक नहीं रहता है। इससे कार्य-सम्पादन मे सुगमता, सरलता, सुन्दरता और सफलता नहीं आ पाती। जब भी आपका हृदय किसी कार्य के प्रति उतावला होगा, सफलता दूर भागने लगेगी। परन्तु ज्योही आप धैर्य का अवलम्बन लेंगे, सफलता के चरण प्रगति करने लगेगें।

घाटे का वराणा :— दि० २ मई १९७२

समता-सिद्धान्त

: ५६ :

तामस और समता ये दो शब्द हैं। एक उल्टा है और एक सीधा। दोनो का प्रतिफल भी नाम के अनुसार ही होता है। जब हम अपने जीवन के आदर्शों से पिछड़ जाते हैं, हमारे आचरण उलटे हो जाते है, तब हमारी वैभाविक तामसी वृत्ति ही इसमें मूल कारण होती है। जब आचरणो की वक्रता समाप्त होती है तो जीवन सीधा, सरल और सुखमय हो जाता है। तब 'तामस' का रूप पलटकर 'समता' हो जाता है। 'समता' एक महामत्र है। इसका विधिवत् आराधन करने से जीवन उन्नत से उन्नतर और फिर उन्नतम हो जाता है। हमारे आदर्श प्रकाशमान हो उठते हैं। तामस मे कटुता है और समता मे मधुरता। आत्म-साधना के क्षेत्र में इसके बिना सुचारु-रूप से गति नहीं आ पाती है। श्रमण-परम्परा का सारा रहस्य 'समता-सिद्धान्त' मे ही निहित माना गया है। 'जैन दर्शन' का दूसरा नाम यदि 'समता-सिद्धान्त' कह दिया जाये, असगत नहीं होगा।

लवान :— दि० २ मई १९७२

समता की परिभाषा

: ६० :

समता-सिद्धान्त की मौलिक परिभाषा गुणमूलक है। बाह्य-दृष्टि से सभी पदार्थ समदृष्टो के लिए समानभाव के अन्तर्गत है, परन्तु आन्तरिक दृष्टि से सब अपने अपने गुण वैशिष्ट धर्मानुसार महत्व को प्राप्त होगे। समत्वदर्शन का तात्पर्य यह नही है कि बाह्यरूप से समान शुक्लता को धारण करने वाले नमक और शर्करा को गुणधर्म मे भी समान मान लिया जाय। यदि समता का भ्रमोत्पादक अर्थ ग्रहण करेंगे तो नमक और शर्करा के गुणधर्मों का का विभाजन करना ही कठिन हो जायेगा। यही मन्तव्य व्यक्ति-समूह पर भी स्वीकृत है। बाह्य दृष्टि से समान समझे जानेवाले व्यक्ति अपने अपने गुण, धर्म, स्वभावादि से भिन्नतः उपयोगी होंगे। समदृष्टा का हृदय उनके प्रति विकारभाव को प्राप्त न हो, यह समदृष्टि यही समता है।

लाखेरी :— दि० ४ मई १९७२

स्वपरिमार्जन

: ९१ :

मानव अपने आपको कम देखता है और दूसरो की ओर दोष-दर्शक दृष्टि गड़ाये रहता है। अपने जीवन-व्यवहार मे शत-शत त्रुटियां प्रतिदिन होती रहती हैं, किन्तु उनको तरफ ध्यान नहीं जाता, अपितु दूसरों की लघुतम भूल पर भी दृष्टि बारबार दौड़ती रहती है। आत्म-विकास के अवरोध का मूल कारण यही है। इसके विपरीत यदि हमारी दृष्टि आत्मानुसन्धान की ओर लग जाती है तो आत्मत्रुटियों के परिष्कार द्वारा जीवन प्रतिपल पवित्रता की ओर बढ़ता चला जायेगा। अतः परद्रष्टा की अपेक्षा स्वद्रष्टा बनना आत्म-कल्याणकारी मार्ग है।

लाखेरी :— दि० ५ मई १९७२

मानसिक दृढ़ता

: ६२ :

अल्पतम भी मानसिक दुष्कल्पना कभी कभी भयकर विष का
र्य कर जाती है। वर्तमान मे जो हार्टफेल तथा आत्महत्या के
र अधिक सामने आने लगे है, उनका कारण भी प्रायः दुश्चितन
दुष्कल्पना ही पाया गया है। दुश्चितन एव दुष्कल्पना मानसिक
लता पर आधारित है। अतः मानसिक दुर्वलताओं के निवारण
लिए तथा सुदृढ मानस स्थिति बनाने के लिए सबल सस्कारो
निर्माण बाल्यावस्था से ही आवश्यक है। माता-पिता, अभि-
वक एव शिक्षकों को चाहिए कि वे बालको को मानसिक दृढता
सम्पन्न बनायें।

इन्द्रगढ :— दि० ६ मई १९७२

समय का मूल्य

: ६३ :

जोवन का एक एक क्षण इतना मूल्यवान है कि यदि आप सारे ससार की सम्पत्ति को लगाकर भी 'वीते हुए एक क्षण' को वापिस लेना चाहे तो नहीं ले सकते। भगवान महावीर की वाणी तो इससे भी आगे की वात कहती है कि एक 'समय' का भी प्रमाद मत करो। एक 'क्षण' में असख्यात 'समय' माने गये हैं। समय काल-व्यवस्था का एक सूक्ष्म से सूक्ष्म भाग है। उसे भी व्यर्थ खोना जीवन की वडी भारी हानि है। इस हानि से वचने के लिए समय का सदुपयोग परमावश्यक है।

इन्द्रगढ :— दि० ७ मई १९७२

विचार एक निधि

: ६४ :

सद्विचार एक मूल्यवान निधि है। इसका सरक्षण अपने जीवन का सरक्षण है। यदि जीवन मे सुन्दर विचारों का सग्रह होता रहे तो अन्त में सुखद शान्ति प्राप्त हो सकती है। किन्तु आजकल वैचारिक जगत् विपरीत दिशा में जा रहा है। जहां जाइये, जिवर जाइये, आपको निम्न कोटि के विचारों का प्रसार ही मिलेगा। चलचित्रो के प्रचार ने तो वैचारिक-भूमिका को दूषित ही करके रख दिया है। व्यापारिक क्षेत्र भी असद् विचारों के प्रभाव से नहीं बच सका है। अशुभ कल्पनायें मानव-जीवन को चारों ओर से घेर रही हैं। इस ओर सतर्क रहने की आज अत्यन्तावश्यकता है।

इन्द्रगढ :— दि० ८ मई १९७२

जीवन की भूल

: ६५ :

जीवन मे जब भी कोई भूल हो जाती है तो आलोचना के द्वारा जब तक उसका प्रायश्चित नही कर लिया जाता है, तब तक जीवन सशंकित और भयाक्रान्त बना रहता है। कृत भूलों को छिपाने के लिए जितना अधिक प्रयास—प्रयत्न मानव अज्ञानवश करता है, उसकी भय शंका-पूर्ण भावना निरन्तर उसे उतना ही आकुल बनाये रहती है। इस स्थिति से बचने के लिए शुद्ध भावना से समाज अथवा गुरुजनो के समक्ष आलोचनादि के द्वारा उसका यथाशीघ्र शुद्धीकरण कर लेना चाहिए, जिससे कि जीवन की यह भयाकुलता सदा के लिए दूर हो जाये।

बाबई :— दि० ९ मई १९७२

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्

: ६६ :

सयम-साधना मे शरीर का मुख्य आश्रय रहता है। शारीरिक शक्ति जब क्षीण हो जाती है, उस समय सावना मे भी शिथिलता का अनुभव होने लगता है। अतः साधना की सफलता के लिए शारीरिक स्थिति को सुदृढ बनाने की अत्यन्तावश्यकता है। कभी कभी साधक अपनी साधना ने स्वास्थ्य को गौण कर देता है, जिससे उसकी साधना सुचारुरूप से नहीं चल पाती। मानसिक और वाचिक ये दोनो शक्तिया शरीर मे ही आश्रय पाती हैं। स्वस्थ शरीर मे स्वस्थ मन होता है और वचन भी स्वस्थ ही रहता है। अतः अन्यान्य शक्तियो की देखभाल के साथ साथ शरीर का ध्यान रखना भी आवश्यक माना गया है।

गलवानियां :— दि० १० मई १९७२

: एक आन्तरिक 'ज्वर'

: ६७ :

ज्वर मुख्यतया तीन प्रकार के माने गये हैं। एक शारीरिक, दूसरा मानसिक और तीसरा वाचिक। साधारण जनता मे शारीरिक ज्वर को ही ज्वर की सज्ञा दी जाती है। यह ज्वर 'डिग्रियों' मे चलता है। कभी कभी इसका वेग एक सौ चार पांच डिग्री तक पहुच जाता है। इस ज्वर से तो औषधि-उपचार के द्वारा छुटकारा मिलना असभव नही है, परन्तु मानसिक ज्वर और दह भी जव 'कन्दर्प' की सज्ञा ले जाये तो वडा ही अनिष्टकारी होता है। इसका प्रभाव सारे जीवन को झकझोर देता है। इससे पतन का द्वार खुल जाता है। दृष्टि मे भी इसका प्रभाव प्रत्यक्ष दीखने लगता है। अतः संयम-साधना के द्वारा इस ज्वर का निराकरण परमावश्यक है।

मडावरा :— दि० ११ मई १९७२

मलेरिया और दुर्विचार

: ६८ :

'मलेरिया' के कीटाणु रक्त मे प्रविष्ट होकर शुद्ध रक्त को भी अशुद्ध कर देते हैं। इस स्थिति को यदि प्रारम्भ में ही न सुधारा जाय तो स्वास्थ्य की स्थिति डांवाडोल हो जाती है। 'मलेरिया' के कीटाणुओं से भी भयकर दुर्विचारों के कीटाणु होते हैं। एक दुर्विचार भी प्रश्रय पाकर सहस्त्रों दुर्विचारो को जन्म देता है। वे 'मलेरिया' के कीटाणु शरीर की दुर्गति करते है और दुर्विचार के कीटाणु जीवन की। इस रोग की स्थिति मे औषधि-प्रयोग किया जाता है, वैसे ही 'दुर्विचारिक' रोग-निवारण के लिए भी अनुभवी, योग्य, आध्यात्मिक वैद्य से अपना उपचार करवाना चाहिए।

चोरू :— दि० १२ मई १९७२

द्रव्य अग्नि और भाव अग्नि

: ६९ :

अग्नि का शमन जल से संभव है परन्तु क्रोध एक ऐसी दुर्दमनीय अग्नि है, जो जीवन के समग्र गुणों को भस्म कर देतीं है। इसे कषायो मे मुख्य माना गया है। क्रोध की आग एक जन्म से दूसरे जन्म तक जीवन को भुलसाती रहती है। जितने भी महायुद्ध आज तक हुवे हैं, प्रायः सबमे इसी का प्रभाव दृष्टिगत होता है। इसका शमन करने वाला सचमुच ही 'शान्ति का अग्रदूत' बन जाता है।

चोथ का बरवाडा :— दि० १३ मई १९७२

०

साध्य निर्धारण में विवेक

: ७० :

साध्य का निर्धारण अत्यन्त विवेकपूर्ण दृष्टि से होना चाहिए अन्यथा जीवनभर की गई भ्रान्त-साधना मृग-मरीचिका की भान्ति निष्फल सिद्ध होगी, क्योकि साध्य का गलत निर्धारण अनुपयुक्त साधनों को ग्रहण करता हुआ भ्रान्त-साधना की ही सिद्धि करेगा।

चोथ का बरवाडा :— दि० १४ मई १९७२

अक्षय तृतीया

: ७१ :

अक्षय शब्द का अर्थ हैं 'न क्षीयते इति अक्षय' अर्थात् जो कभी क्षय (नाश) न हो उसे अक्षय कहते है। तृतीया शब्द इसके साथ ऐतिहासिक स्मृति का है। दोनों शब्द एक गूढ रहस्य लिए हुए है और आध्यात्मिक रस से परिपूर्ण हैं। ये हमे अपने मौलिक गुण, ज्ञान, दर्शन और चारित्र की ओर प्रेरित करते हैं। ज्ञान, दर्शन, चारित्र की निर्मल आराधना से ही जीवन की अक्षमता का ज्ञान होता है। मन, वचन और काया की शुद्ध एकरूपता के द्वारा अपने स्वरूप का चिंतन करना 'अक्षय दर्शन' का प्रथम द्वारा माना गया है। आज के दिन ही प्रथम तीर्थंकर भगवान श्री ऋषभदेवजी को राजा 'श्रेयासकुमार' ने इक्षु-रस का निर्दोष दान देकर उनके दर्षीतप का पारणा करवाया था।

चोथ का वरवाडा :— दि० १५ मई १९७२

मैं और मेरा

: ७२ :

जबतक मानव स्वार्थ की क्षुद्र सीमा मे रहता है, तबतक उसे मेरे मेरे की भावनाए सताती रहती है। जीवन के विकास मे 'मैं और मेरा' ये दो धारणाए ही अडचन डालती हैं। कुछ लोग इन्हे समाप्त करने की बात कहते हैं किन्तु दार्शनिक चिन्तन हमे एक विशिष्ट प्रेरणा देता है कि यदि 'मैं और मेरा' की भावना समाप्त न कर पाऐ तो कोई बात नहीं। इन्हे हम असीम में ढाल दें, तब इनका विराट् रूप समस्त ससार मे व्याप्त दिखलाई पडेगा। सबमे हमे—'मैं और मेरा' की अनुभूति होने लगेगी और सुप्त समता-भाव अगड़ाई लेकर जाग उठेगा।

चोथ का बरवाडा :— दि० १९ मई १९७२

स्वभाव-विभाव

: ७३ :

विभाव जीवन का बाह्यरूप है और स्वभाव अन्तरग। जब हमारे अन्तरग पर वैभाविक आवरण आता है तो स्वभाव हमसे तिरोहित हो जाता है। स्वभाव के तिरोहित होते ही अज्ञानान्धकार हमारे चारों ओर फैल जाता है, जिससे हिताहित का ज्ञान नहीं रह पाता और अनेक प्रकार की भूलें होती रहती हैं। दुर्बलतावश हम इन भूलों को प्रगट करने की अपेक्षा यत्नतः गोपनीय बनाये रखते हैं। इससे हमारा जीवन दुःखमय हो जाता है और भीतर ही भीतर व्यग्रता की भट्टी सुलगती रहती है। जबतक इन भूलों का निर्भीकता से प्रकाशन नही किया जाता है, तबतक उस अशान्तिपूर्ण स्थिति से मुक्ति नहीं मिल सकती। अतः भूलो का करना और उनका सगोपन भी दुःख का एक कारण है।

चोथका बरवाडा :— दि० १७ मई १९७२

अन्तर्दर्शन-एक दृष्टि

: ७४ :

वाह्य को देखकर अन्तर का मूल्यांकन करने से कभी कभी आंखें धोखा खा जाती हैं। वस्तु का वास्तविक स्वरूप तो अतर में निहित होता है। किसी विशेष स्थिति मे ही 'वाह्य पर' उसका प्रभाव दृष्टिगत होता है। एकान्ततः वाह्य की ओर दृष्टि रखने से अन्तरंग-धन की उपेक्षा हो जाती है, जिससे हमारा दृष्टिकोण मूल से हटकर विपरीत विश्वास ले लेता है। परिणामतः हम जिस वस्तुतत्त्व की खोज करने का प्रयास करते है, वह हमे प्राप्त नहीं हो पाता है। इसके लिए अन्तरावलोकन आवश्यक माना गया है। एक वार भी यदि सत्यनिष्ठापूर्वक भीतर का रस ले लिया जाय तो फिर हमारी दृष्टि वहिर्मुखी न रहेगी। कहा भी है :—

छवि देखी अन्दर की जिसने वह फिर वाहर क्या देखे ?
अक्षर पर आंखें है जिसकी, वह क्षणभगुर को क्या देखे ?

चोय का वरवाडा :— दि० १८ मई १६७२

उत्साह और पुरुषार्थ

: ७५ :

आत्म-उत्साही व्यक्ति आशातीत सफलता प्राप्त कर लेता है। उत्साह के न रहने पर मनुष्य निराश हो जाता है, अपनेआपको नितान्त भाग्याधीन मान बैठता है और कभी कभी ईश्वर को भी कोसने लगता है। यह स्थिति उत्साह के शिथिल होने पर आती है। अतः प्रत्येक कार्य को सविधि सम्पन्न करने के लिए अपने उत्साह को जमाए रखना चाहिए।

अलीगढ (रामपुरा) :— दि० १९ मई १९७२

अहं का प्रभाव

: ७६ :

अह की छोटी सी स्थिति अग्नि की तीव्र ज्वाला से भी भयकर होती है। अग्नि की दीप्त ज्वाला से भी अधिक हानि अह की थोडी सी सत्ता कर देती है। अहं हमारे विकास द्वार की अर्गला है। अहकारी दूसरे की हित सम्पादक, सत्य और न्यायपूर्ण वात को भी स्वीकार करने मे अपनी पराजय का अनुभव करता है। यहां तक कि वह अपनी वात को सर्वोत्तम प्रमाणित करने के लिए अनुपयुक्त विवाद-तर्क-वितर्क, सघर्ष तथा हिंसा करने मे भी नहीं हिचकिचाता। अतः छोटे रूप मे ग्रहण किया हुआ भी अह महान् व्यक्तित्व को पतित वना देता है।

अलीगढ (रामपुरा) :— दि० २० मई १९७२

मद के दो प्रकार

: ७७ :

'मद' दो प्रकार का होता हैं, एक द्रव्य और दूसरा भाव। 'वुद्धिर्लुम्पति यद्द्रव्य मदकारि तदुच्यते' अर्थात् जो द्रव्य वुद्धि को विकृत कर देते हैं, उन्हे मदकारक कहा जाता है। यह वात, शराब आदि द्रव्यो के लिए विशेष रूप से कही गई है। परन्तु अन्तर में उठी हुई 'अह की भावना' भी मदकारी होती है। 'द्रव्यमद' की अपेक्षा 'भावमद' अधिक हानिकारक होता है। इसके प्रवाह मे मानव अपना हिताहित सव कुछ भूल जाता है। एक प्रकार से बोघहीन सा हो जाता है। उसे अपने-पराये का भान नहीं रहता है। अपनो से बडो के प्रति कैसा व्यवहार करना चाहिए, उसे इसका किंचित् भी ध्यान नही रहता। जीवन की सफलता इससे कोसो दूर चली जाती है।

अलीगढ (रामपुरा) :— दि० २१ मई १९७२

स्नेह की तरंग

: ७८ :

स्नेह की तरगे जव अन्तःकरण से उठनी है, उस समय अतीत का गहरा द्वेष भी पानी वनकर उन तरगो के साथ वह जाता है। सर्वसाधारण मे स्नेह के अनेक अर्थ लिए जाते हैं। उन सवका मौलिक अर्थ आत्माओ के अन्तर का एकीकरण या एकत्वभाव मे परिणित होना है। वास्तविक स्नेह से जीवन में अनेक शुभ भावनाओं का सचार होता है। स्नेह की भावना जितनी अधिक होगी, उतनी ही आत्मशान्ति वढती जायेगी। ये सव वातें आंतरिक विशुद्ध स्नेह के लिए ही कही गई हैं।

गाडोली :— दि० २२ मई १९७२

गुण-ग्राहकता

: ७६ :

संसार में गुण और अवगुण दोनो ही तत्व विद्यमान है। मानव की जैसी दृष्टि होती है, वह उसी तत्व को ग्रहण कर लेता हैं। हस के समान वृतिवालो का स्वभाव सदा गुण ग्रहण करने का होता है। आज का मनुष्य कुछ विपरीत दिशा मे जा रहा है। जहा से उसे गुण-ग्रहण करना चाहिए, वहां से भी वह दोष ही ग्रहण कर रहा है। उसका यह दोष-दर्शन का स्वभाव समूचे जीवन को दोषी बनाये हुए है। दोष-ग्राहकता जीवन के लिए एक अभिशाप है, कलक है। जीवन की उन्नति के लिए इन पक्तियो का विवेकपूर्ण चिंतन करना चाहिए—

"गुण ग्राहकता का भाव रहे नित, दृष्टि न दोषों पर जावे"

खातौली — दि० २३ मई '९७२

साधक और सहनशीलता

: ८० :

जीवन मे संख्यातीत ऐसे उतार-चढाव के प्रसग आते हैं, जिनमे व्यक्ति यदि कुछ सहिष्णु न रहे तो वह आवेश, आक्रोश एव आकुलता के जटिल जाल मे उलझकर अपने प्रगति-मार्ग को अवरुद्ध कर लेता है। साधारण सी सहनशीलता तो स्वभावतः प्रायः प्रत्येक मानव मे पाई जाती है। परन्तु साधक की विशेपता भयकर एव कठिन विपत्ति मे भी सहनशीलता बनाये रखने मे है। वास्तव मे साधना का मार्ग अत्यन्त कटकाकीर्ण है, जिस पर शांत एव सहनशील साधक ही गति कर सकते हैं और इस प्रकार के साधक ही अन्ततोगत्वा अपने साध्य की सिद्धि कर सकते हैं।

देवली :— दि० २४ मई १९७२

नंवरी रहै न नाते जाय

: ८१ :

निठल्ले एव निष्क्रिय मानव का मन स्वेच्छाचारी एव निरकुश हो जाता है। फिर वह सरलतया पकड़ में नही आता। ऐसी स्थिति मे कभी कभी वह बड़े बड़े अनर्थ कर डालता है। अतः सद्ज्ञान द्वारा उसे प्रतिपल सत्कार्य-निरत रखना चाहिए। न वह खाली रहेगा न उत्पात करेगा। ठीक ही कहा है :—

"नवरी रहै न नाते जाय"

उखलाना :— दि० २५ मई १९७२

उत्तरदायित्व

: ८२ :

उत्तरदायित्व मनुष्य के जीवन को उत्तरोतर प्रगति की प्रेरणा देता है। वास्तव मे जबाबदारी जीवन की कसौटी होती है। इसी से लौकिक-जीवन की सफलता या असफलता का निर्णय होता है। अतः अपने लिए उत्तरदायित्व को ईमानदारी से निभाना विचारशील मानव का काम है। उत्तरदायित्व को सफलता-पूर्वक वहन करनेवाला व्यक्ति आत्म-साधना के पथ पर सफलता-पूर्वक बढता हुआ लक्ष्य लाभ करता है।

पचाला :— दि० २६ मई १९७२

जीवन का मूल्यांकन

: ८३ :

कुछ लोग व्यक्ति का मूल्यांकन आर्थिक दृष्टि से करते हैं तो कुछ पोशाक आदि परिवेशों से। पद-प्रतिष्ठा आदि से भी व्यक्ति का मूल्यांकन किया जाता है परन्तु विचार करने पर ये सभी निर्णय वाह्य एवं असगत हैं। तलवार का मूल्याकन न करके उसको 'म्यान' के मूल्यांकन के समान है, वास्तविक मूल्यांकन व्यक्ति के नैतिक और धार्मिक आचरणों से ही होता है। नैतिक और धार्मिक स्थिति से गिरा हुआ व्यक्ति मूल्यांकन मे खरा नहीं उतरता। अतः नीति और धर्म की दृष्टि ही सही मूल्यांकन मे सहायक है।

पचाला :— दि० २७ मई १६७२

सच्चा सम्मान

: ८४ :

वाह्य साधनो से जो सम्मान प्राप्त किया जाता है, वह स्थायी नहीं होता। उसमे आशंकाओ का घुन लगा रहता है। वस्तुतः आत्म-सम्मान ही जीवन की सबसे वडी थाती है। इसके लिए आत्मज्ञ पुरुषो के चरण-चिन्हों पर चलना मानव के लिए श्रेयस्कर है। क्योकि जोवन का सम्मान क्षणिक नहीं, अक्षुण्ण होना चाहिए।

कुस्तला :— दि० मई १९७२

भय का कारण

: ८५ :

जीवन की निर्वलता का नाम भय है। जितना-जितना जीवन अपने सत्व से विपरीत चलेगा, उतना ही उसका भय वढता जायेगा। सत्व मे सत्य निहित होता है। सत्य पर जव असत्य का आक्रमण होता है तो अपनी मानसिक निर्वलता मानव को भयभीत वना देती है और उसके चारों ओर असत्य का जाल सा विछ जाता है, फिर अपने अखड सत्य का सरक्षण करना उसके लिए कठिन हो जाता है। परन्तु ज्योंहीं "सत्यमेव जयते नानृत" का मूलमत्र उसके मानस में जागृत होता है तो जीवन निर्भयता की अगडाई लेने लगता है। यही निर्भीक भावना असत्य को पछाड देती है और जीवन सत्य मे प्रतिष्ठित हो जाता है। लुकाव-छिपाव की भयपूर्ण भावना समाप्त हो जाती है और सत्य का सर्वतो-भावेन शुद्ध रूप सामने आजाता है।

आदर्शनगर :— दि० २९ मई १९७२

आसक्ति की हेयता

: ८९ :

आसक्ति किसी भी प्रकार की क्यो न हो उसे 'हेय' ही माना गया है। आसक्ति मे मोह की प्रबलता रहती है और मोह सर्वथा हेय होता है, चाहे फिर वह प्रशस्त अथवा अप्रशस्त कैसा ही क्यो न हो। किसी अपेक्षा से प्रशस्त मोह को ग्राह्य माना जाता है किन्तु उसकी भी अतिम स्थिति हेय ही मानी गई है। धर्मगुरु और धर्मशिष्य के सम्बन्धों की तारतम्यता मे आसक्ति नहीं होती। उसे आप धर्मप्रेम या धर्मस्नेह कह सकते है। आसक्ति का अर्थ मूल रूप मे अप्रशस्तात्मक ही लिया जाता है। आज हमारी आसक्ति जिस किसी रूप मे भी चलरही है, उसमे उपादेयता की अपेक्षा हेय तत्व अधिक है। यह मोह की भावना हमारे आंतरिक धन को असुरक्षित करती है। इसमे परद्रव्य-आसक्ति अधिक है। यही कारण हैं कि आज हम पूर्ण आत्मिक स्वतन्त्रता (मोक्ष) के सुख से दूर होते जारहे हैं और बाधक शक्तियां जीवन की प्रगति को रोक रही हैं। प्रयासो की थकान से हम चूरचूर हो रहे हैं। यह थकान बाह्यस्नेह, आसक्ति अथवा मोह के कारण ही हो रही है, अन्यथा हम तो मूल मे अनत शक्तिसम्पन्न है। अनत शक्ति मे थकान कैसी ?

आदर्श नगर :— दि० ३० मई १९७२

सत्संगति का प्रभाव

: ८७ :

श्वेत वस्त्र जैसे भी रग की सगति करेगा, उसका रूप उसी रग मे रग जायेगा। मनुष्य के लिए भी ऐसा ही निर्देश है कि वह जैसी सगति करेगा, उसका जीवन वैसा वन जायेगा। "ससर्गजाः दोपगुणाः भवन्ति" की उक्ति का भी यही तात्पर्य है कि दोप और गुण सभी ससर्ग से होते हैं। कभी कभी अशुद्ध ससर्ग से गुण भी दोष वन जाते हैं। जीवन जैसे ससर्ग मे रहता है, उस पर गुणों और दोपो का प्रभाव पडे विना नहीं रहता। जैसे, सौ आम्र वृक्षो के वीच में स्थित इमली का वृक्ष सारे आमके वृक्षो को अमल वना देता है, जवकि सौ आम्र वृक्ष एक इमली मे भी मधुरता का संचार नहीं कर सकते। उसी तरह सौ सद्गुण एक महान् दुर्गण को दवा नही पाते। आज अवगुणों का आकर्षण अधिक दीख पड रहा है, परिणामतः सुधार की अपेक्षा विगाड अधिक हो रहा है। इस विगाड से जीवन को वचाने के लिए हमे सत्सगति मे जाना होगा। वहीं जाकर हमारे उपर लगा हुवा असत् का मैल धुल सकेगा।

सूखाल :— दि० ३१ मई १९७२

स्वाभाविक सौन्दर्य का रूप

: ८८ :

कृत्रिमता मे स्वाभाविकता नहीं होती। आज का मानव कृत्रिम सौन्दर्य की उपासना में अधिक तल्लीन है। आप बनावटी फूलो से अपने बगले को कितना ही सजाइये, आपको प्राकृतिक-सौन्दर्य का आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता। यही बात शरीर सौन्दर्य के लिए भी कही जा सकती है। उपर के बनाव-शृंगार में उलझे रहने मे आंतरिक-सौन्दर्य उपेक्षित सा हो जाता है। यह मूल सौन्दर्य की उपेक्षा सारे जीवन की उपेक्षा बन जाती है। सुन्दरता का वास्तविक रूप तो आत्मा मे है। शारीरिक सुन्दरता में 'विनाश' प्रत्येक क्षण समीहित रहता है। अत. उसका सौन्दर्य अस्थिर माना गया है। अस्थिर के लिए अक्षुण्ण अविनाशी तत्व की उपेक्षा हास्यास्पद विषय है।

चकेरी :— दि० १ जून १९७२

सत्-असत्

: ८९ :

आज का मानव कृत्रिमता मे स्वाभाविकता का अन्वेषण करना चाहता है। ईश्वर से भी वढकर ईश्वर की असत् प्रतिकृति की पूजा इसका प्रमाण है। महावीर, बुद्ध, रामकृष्ण आदि की पूजा-प्रतिष्ठा उनके जीवनकाल मे इतनी नहीं हुई, जितनी कि उनके जाने के वाद। आज इनकी पूजा विविध प्रकार से वाह्य दिधानो के साथ होती जा रही हैं। परन्तु मूल स्वरूप की उपेक्षा कर उसके प्रतिविम्व पर आस्था रखना कागज के फूलों से सौरभ प्राप्त करने का व्यर्थ प्रयास ही कहा जायेगा। अतः कृत्रिमता का परित्याग कर मानव को स्वाभाविकता की ओर वढना चाहिए।

श्यामपुरा :—(धर्मपुरी) दि० २ जून १९७२

धर्म और प्रदर्शन

: ६० :

धार्मिक क्रियाकलाप अथवा जीवन की नैतिक प्रवृत्तियों मे जब प्रदर्शन, यशोलिप्सा तथा एक दूसरे को नीचा दिखलाने की भावना का प्रवेश हो जाता है, तब उन क्रिया-कलापों एव प्रवृत्तियों मे पहले जैसी शुद्धता नहीं रहती। अधिकाश मनुष्य आज इन प्रलोभनकारी प्रवृत्तियों से नहीं बचे हैं। इस दिशा मे सयम-साधना एव अभ्यास की अत्यन्तावश्यकता है।

श्यामपुरा :— (धर्मपुरी) दि० ३ जून १९७२

बाह्याभ्यन्तर

: ६१ :

कल संध्या को एक भक्त ने बड़ी सफेद उज्ज्वल शक्कर वहरा दी (गोचरी मे भेट की)। आहार के समय उसका उपयोग करने के लिए ज्योंही उसमे पानी डाला गया, तो पानी और शक्कर दोनों ही काले हो गये। ऐसा देखकर बडा ही आश्चर्य हुआ। आभ्यन्तर से एक चिन्तन मुखरित हुआ। क्या ऊपर से उज्ज्वल एव श्वेत दिखलाई देने वाले जगत् के पदार्थ भीतर से इसी प्रकार काले तो नहीं हैं ?

श्यामपुरा :— (धर्मपुरी) दि० ४ जून १९७२

संयोग-वियोग

: ६२ :

सयोग और वियोग जीवन की दो अवश्यभावी क्रियायें हैं। जीवन पट के चित्र भी सिनेमा के चलचित्रों की भांति गतिशील हैं, जिसमें विविध प्रकार के संयोग-वियोगात्मक दृश्य प्रदर्शित होते रहते हैं। कभी प्रिय का तो कभी अप्रिय का संयोग-वियोग प्रायः देखा जाता है। इन संयोग-वियोगात्मक दृश्यों को यदि हम तटस्थद्रष्टा की भांति नाटकीय समझकर अवलोकन करते रहें तो हमारे मन मे हर्ष-विवाद की लहरें कदापि उत्पन्न न होगी, मनःस्थिति स्थिर रहेगी और वास्तविक आनन्द की अनुभूति होने लगेगी।

श्यामपुरा (धर्मपुरी) दि० ५ जून १९७२

साधना का सत्स्वरूप

: ६३ :

साधना के मर्म को समझे विना साधना-पथ पर पैर रखना साध्य से भटक जाना ही होगा, क्योकि ज्ञानहीन-साधना ऊपर के क्रिया-कलापों एव विधानो में हमे उलझाकर उसकी नैश्चयिकता से दूर हटाकर रख देगी। आज की साधना मे सबसे बड़ी कठिनाई यही है कि हम उसके उपर के कलेवर पर जितने आकर्षित हैं, उसके शतांग मे भी साधना के मौलिक स्वरूप को नहीं समझ पाये है। अतः साधना-पथ पर कदम रखने से पूर्व साधना के सम्यक् स्वरूप को समझना अत्यावश्यक है।

श्यामपुरा (धर्मपुरी) दि० ६ जून १९७२

उन्मुक्त साधना

: ९४

साधुत्व के साथ साथ सत्ता एव सत्तात्मक अधिकार-कर्तव्यो का निर्वाह अधिक कठिन है। सत्ता, अधिकार और कर्तव्य ये तीनों प्रसंगतः प्रशासनात्मक प्रणाली में मानस को उत्तरदायित्व की भूमिका पर व्यस्त रखनेवाले हैं, अर्थात् सत्तात्मक भारवहन करनेवाला साधक पर के विषय में अधिक चिन्तन करता है और आत्मपरक चिंतन कम। अपने लिए और समूह के लिए सोचते रहनेवाले उस साधक को दुहरे उत्तरदायित्व मे फसना पडता है। अतः प्रशासनिक जीवन आत्मोन्नति सोपान में बाधक ही सिद्ध होता है। अतः शुद्ध साधनात्मक जीवन के लिए सत्ता एव अधिकारों से दूर रहना ही श्रेयस्कर है। अत्यधिक उच्च कोटि के साधक इसके अपवाद हो सकते हैं।

श्यामपुरा (धर्मपुरी) दि० ७ जून १९७२

साधना का सत्स्वरूप

: ९३ :

साधना के मर्म को समझे विना साधना-पथ पर पैर रखना साध्य से भटक जाना ही होगा, क्योकि ज्ञानहीन-साधना ऊपर के क्रिया-कलापो एव विधानो में हमें उलझाकर उसकी नैश्चयिकता से दूर हटाकर रख देगी। आज की साधना मे सबसे बड़ी कठिनाई यही है कि हम उसके उपर के कलेवर पर जितने आकर्षित हैं, उसके शतांश मे भी साधना के मौलिक स्वरूप को नहीं समझ पाये हैं। अतः साधना-पथ पर कदम रखने से पूर्व साधना के सम्यक् स्वरूप को समझना अत्यावश्यक है।

श्यामपुरा (धर्मपुरी) दि० ६ जून १९७२

उन्मुक्त साधना

: ६

साधुत्व के साथ-साथ सत्ता एव सत्तात्मक अधिकार-कर्तव्यो का निर्वाह अधिक कठिन है। सत्ता, अधिकार और कर्तव्य ये तीनों प्रसंगतः प्रशासनात्मक प्रणाली में मानस को उत्तरदायित्व की भूमिका पर व्यस्त रखनेवाले हैं, अर्थात् सत्तात्मक भारवहन करनेवाला साधक पर के विषय मे अधिक चिन्तन करता है और आत्मपरक चिंतन कम। अपने लिए और समूह के लिए सोचते रहनेवाले उस साधक को दुहरे उत्तरदायित्व मे फसना पडता है। अतः प्रशासनिक जीवन आत्मोन्नति सोपान में बाधक ही सिद्ध होता है। अतः शुद्ध साधनात्मक जीवन के लिए सत्ता एव अधिकारों से दूर रहना ही श्रेयस्कर है। अत्यधिक उच्च कोटि के साधक इसके अपवाद हो सकते है।

श्यामपुरा (धर्मपुरी) दि० ७ जून १९७२

साधना का मूल ब्रह्मचर्य

: ६५ :

ब्रह्मचर्य का पालन करना अत्यन्त कठिन है और विना ब्रह्मचर्य साधना के कठिन मार्ग पर पैर रखने की क्षमता प्राप्त हो सकेगी, इसमें सन्देह है। निर्वल मानस वाले व्यक्ति वहुधा ब्रह्मचर्य की दुस्साध्यता से कतरा कर इस साधना-क्षेत्र की ओर वढने का साहस ही नहीं करते। परिणामतः उनका जीवन विवशतया भोगाधीन हो जाता है। भोगाधीन व्यक्ति जीवन की सफलता प्राप्त नहीं कर सकता और निरन्तर पतनोन्मुख वना रहता है। अतः आत्म-कल्याण के लिए ब्रह्मचर्य सर्वथा एव सर्वदा अपेक्षित है।

कुण्डेरा :— दि० ८ जून १९७२

सत्य और नैतिकता

: ६६ :

सत्य और नैतिकता प्रकाशक और प्रकाश्य की भांति सम्बन्वित है। सत्य ही प्रकाश का अनुपम भडार है और उसमें प्रकाशित होने योग्य यदि कुछ है तो नैतिकता है। आशय यह हैं कि सत्य के बिना नैतिकता अन्धकारमय होगी और उसका सम्यक् दर्शन नही हो सकेगा। कुछ व्यक्ति सत्य की उपेक्षा कर नैतिकता अपनाना चाहते हैं जो कि सर्वथा असम्भव है। नैतिकता-प्रिय व्यक्ति को सत्य पालन करना ही होगा।

कुण्डेरा :— दि० ६ जून १९७२

व्यक्ति-उपयोगिता

: ९७ :

अल्प शक्ति एव अल्प वुद्धि समझकर किसी की उपेक्षा करना कभी कभी हानिप्रद हो जाता है। सुई का भी अपना महत्त्व होता है, इसे कभी नहीं भूलना चाहिए। अग्नि की छोटी सी चिनगारी भी उपेक्षा करने से भयकर हानि कर सकती है। अतः छोटे व्यक्ति की भी अपेक्षा का अनुभव करना चाहिए। उपेक्षा सर्वतो-भावेन हानिकारक ही होगी। व्यक्ति-उपयोगिता के विपय मे कवि रहीम का यह पद्य अत्यन्त मार्मिक है :—

रहिमन देखि वड़ेन को, लघु न दीजिए डार।
जहां काम आवे सुई, कहा करे तलवार ?

कुण्डेरा :— दि० १० जून १९७२

अपेक्षा-उपेक्षा

: ९८ :

अपेक्षा और उपेक्षा मे शाब्दिक अन्तर केवल 'अ' और 'उ' का है परन्तु अर्थ-विवेचन से दोनों में गहरा अन्तर प्रगट होता है। अपेक्षा अणु-परमाणु तक की उपयोगिता का प्रतिपादन करती है, जबकि उपेक्षा उनके प्रति औदासीन्य प्रगट करती है। अपेक्षा समन्वय सिद्धान्त की जननी है और उपेक्षा अन्य के प्रति दृष्टि मे महत्त्वहीनता भरती है। यही दोनो में मौलिक अन्तर है। हमे अपेक्षावादी होना चाहिए, उमेक्षावादी नहीं।

खड्पुरा :— दि० ११ जून १९७२

वाहर-भीतर

: ९९ :

किसी भी व्यक्ति के आन्तरिक जीवन को परखे बिना उसके प्रति अपना मत निर्धारिण करना भारी भूल है, क्योंकि वहुधा ऊपर से विनम्र सभ्य एव सज्जन प्रतीत होनेवाले व्यक्ति अन्तर से उतने ही अधिक कठोर, असभ्य एव असज्जन हो सकते हैं। अतः सम्यक् निरीक्षण एवं परीक्षण अपेक्षित है अन्यथा हमे धोखा हो सकता है और कभी कभी सकट मे भी फँसना पडता है। सारांश यह है कि हमे उपरी रग-रूप, वेश-विन्यास, आकार-प्रकार एव चेष्टाओ पर मुग्ध न वनकर उसकी गहराई तक पहुचना चाहिए।

सवाई माधोपुर :— दि० १२ जून १९७२

विज्ञान और शान्ति

: १०० :

विज्ञान द्वारा आविष्कृत साधनों से मूल मे शान्ति और आनन्द की प्राप्ति का लक्ष्य निहित है परन्तु यह प्रत्यक्ष देखने मे आ रहा है कि वैज्ञानिक उपकरणों एव साधनों से शान्ति के स्थान पर अशान्ति तथा प्रेम के स्थान पर सघर्ष ही उत्पन्न हुआ है और हो रहा है। ऐसी स्थिति मे विज्ञान को अपना मार्ग बदल देना चाहिए। भौतिक अन्वेषण-अनुसन्धान के स्थान पर उसे आध्यत्मिक अन्वेषण-अनुसन्धान करने चाहिए, जिनमें शान्ति का सत्य स्वरूप प्रतिभासित हो रहा है।

सवाई माधोपुर :— दि० १३ जून १९७२

अन्तर्दर्शन

: १०१ :

दृष्टि का बहिर्मुखी होना हमे परदोष-दर्शक बना देता है। परदोष-दर्शक आभ्यन्तर की ओर कभी अवलोकन नहीं करता। वह प्रतिपल एव अनवरत यही देखता रहता है कि कौन क्या कर रहा है तथा किसमे क्या कमियां है? वह कभी यह नहीं सोचता कि मैं क्या कर रहा हूँ और कितनी गहराई मे हूं? मेरा क्या कर्त्तव्य-धर्म हैं और मैं अपने प्रति कितना सजग हूँ? इस तरह वह अपनी परदोष-दर्शिनी कुप्रवृति से जीवन को दोषमय बनाता हुआ कर्मों का भारवाही बनकर ससार से विदा हो जाता है। अतः उज्ज्वल गुण पाने तथा जीवन को हलका बनाने के लिए अन्तर्मुखी होकर आत्मावलोकन करना आवश्यक है। इस प्रसग मे कवि का यह पद्य अत्यन्त ही उपयुक्त जान पडता है।

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न दिखा कोय।
जो दिल खोजा आपना, मुझसे बुरा न कोय॥

सवाई माधोपुर :— दि० १४ जून १९७२

दृष्टि-समन्वय

: १०२ :

एक ही पदार्थ भिन्न भिन्न दृष्टियों से भिन्न भिन्न प्रतिभासित होता है। एक ही नारी पिता, पुत्र, भाई, पति आदि की दृष्टि मे भिन्न भिन्न सम्बन्ध-रूपों मे देखी जाती है। तात्विक चिंतनात्मक दृष्टि से यही दर्शन वस्तु-मात्र पर लागू होता है। इसी को ही दार्शनिकों की भाषा मे अनेकान्तवाद या सापेक्षवाद कहते हैं।

दृष्टियों की इस भिन्नता में अभिन्नता की खोज करना अथवा दृष्टियों मे समीकरण करना अनेकान्त-सिद्धान्त का कार्य क्षेत्र है। विश्व के सभी दर्शनों मे रहनेवाले इस तथ्य के नवनीत को प्राप्त करना और उसे सापेक्षिक सत्य स्वीकार करना, अनेकान्त की विषय-मर्यादा है न केवल दर्शन के क्षेत्र मे ही अपितु व्यवहार, राजनीति, समाजस्थिति आदि मे भी इसके प्रयोग उपयोगात्मक है।

सवाई माधोपुर :— दि० १५ जून १९७२

शासन और अनुशासन

: १०३ :

शासन और अनुशासन का क्षेत्र भिन्न है। शासन बलपूर्वक भी किया जाता है, जबकि अनुशासन व्यक्ति के अन्तर से प्रस्फुटित होता है। तात्पर्यतः बलपूर्वक किसी पर लादे गये सरकारी या सामाजिक नियमोपनियम शासन है और व्यक्ति के नैतिक जीवन को जागृत कर उसे स्वेच्छा से किसी नियम पथ पर चलने को तैयार करना अथवा सत्प्रेरणा से व्यक्ति का तदर्थ तैयार हो जाना अनुशासन है। शासन और अनुशासन को यह क्रिया-प्रक्रिया राजनीति, धर्म, समाज-व्यवस्था आदि विभिन्न क्षेत्रो मे देखी जा सकती है अतः व्यष्टि एव समष्टि दोनो के अभ्युत्थान के लिए शासन की अपेक्षा अनुशासन अधिक उपादेय है।

सवाई माधोपुर :— दि० १६ जून १६७२

सिद्धान्त का आधार-आगम

: १०४ :

अपनी इच्छा से किसी सिद्धान्त एव उसकी परिभाषा का गठन करना उपयुक्त एव प्रमाणिक नही कहा जा सकता। ससार मे जितने मनुष्य हैं, यदि वे सब उतने ही सिद्धान्तों एव परि-भाषाओं का सम्पादन आरम्भ कर दें तो विश्व की कोई एक मान्यता नहीं रहेगी और 'मुडे मुडे मतिर्भिन्ना' वाली कहावत चरितार्थ हो जायेगी। अतः नवीन सिद्धान्तो का गठन न कर पूर्व निर्मित शास्त्रीय सिद्धान्तो पर ही टिककर अपने को आगे बढाना चाहिए।

सवाई माधोपुर :— दि० १७ जून १९७२

साधना और नीरवता

: १०५ :

एकान्त और शान्त-नीरव प्रदेश मे पलने वाली साधना की परीक्षा विश्व के विषमतापूर्ण कोलाहलमय वातावरण मे ही होती है। यदि चतुर्दिक अशान्ति से भरे हुए वातावरण के बीच मे स्थित होकर भी साधक अपने आपमे स्थिर रह सके तो उसकी साधना परिपक्व कही जायेगी। ऐसा अटल साधक स्वसाधना-पथ से कभी विचलित नहीं होगा।

तत्वतः साधना का सम्बन्ध मन की एकान्तता के साथ है, न कि बाहर की एकान्तता अथवा अनेकान्तता से। अतः स्वय की देह को जनख से हटाने की अपेक्षा मन को उससे अलग करने की क्षमता प्राप्त करनी चाहिए।

सवाई माधोपुर :— दि० १८ जून १९७२

अन्तर्ध्वनि

: १०६ :

प्रत्येक कल्पना, प्रवृति एव कार्य मे सर्वप्रथम अन्तर्ध्वनि स्वीकृति-अस्वीकृति रूप मे व्यक्त होती है। हम किसी प्रवृति मे सलग्न हो या न हो इसका उत्तर आभ्यन्तर से सर्वप्रथम प्राप्त होता है और वही हमारे लिए हितकारी होता है। परन्तु स्वार्थ, ममता एव लौकिक आकर्षणो के कोलाहल मे हम उस अन्तर्ध्वनि की उपेक्षा कर देते हैं। परिणामतः समस्याओं के जटिल जाल मे उलझ जाते है। अतः व्यक्ति यदि अपने अन्तः स्वर को दबाये नहीं और तदनुकूल आचरण करे तो उसके सामने कोई समस्या उत्पन्न ही नहीं होगी। तत्वतः व्यक्ति को अतर की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

सवाई माधोपुर :— दि० १९ जून १९७२

पर मानस विजय

: १०७ :

किसी भी व्यक्ति के हृदय पर विजय पाने के लिए सहिष्णुता, विनम्रता, वात्सल्य अथवा प्रेम जैसे गुण ही उपादेय है। क्रोध तथा दर्प से किसी के मानस को जीतने का प्रयास कभी सफल नही होता। कभी कभी क्रोध अथवा दर्प से व्यक्ति को पर मानस विजय की भ्रन्ति हो जाती है। किसी परिस्थितिवश क्रोव एव दर्प का पात्र किंचित् काल के लिए दव जाता है परन्तु परिस्थिति के हटते ही उसकी प्रतिक्रिया भयंकर रूप मे व्यक्त होती है। अतः सहिष्णुता, विनम्रता, वात्सल्य आदि सद्गुण वास्तव मे पर-मानस विजय के मुख्य आधार हैं।

सवाई माधोपुर :— दि० २० जून १९७२

संकल्प-साधना

: १०८ :

विकल्पो के जटिल जाल मे उलझा हुआ मन कभी शान्ति का अनुभव नहीं करता। ककर के आघात से सरोवर मे उत्पन्न लहर चक्र की भाति दुर्वल चित्त सरोवर मे परिस्थिति के एक आघात से ही असख्य विकल्पचक्र जन्म लेते हुए वढते चले जाते हैं और सम्पूर्ण मन को आवृत कर लेते है। परिणामतः व्यक्ति अशान्ति ग्रस्त होकर सशयात्मक बुद्धि के दोले पर झूलता हुआ किसी अच्छे निर्णय पर नहीं पहुचता। इस विकल्प-क्रिया का अवरोधन सकल्प-साधना के द्वारा होता है। अतः अध्यात्म चिंतन से सत्सकल्प को धारण कर शान्ति की प्राप्ति करनी चाहिए।

सवाई माधोपुर — दि० २१ जून १९७२

शब्द और उसके अर्थ

: १०६ :

शब्दो का प्रयोग-प्रयोजन अर्थ की अभिव्यञ्जना है। केवल शाब्दिक चमत्कार-प्रदर्शन अर्थ के विषय मे विभिन्न प्रकार की भ्रान्तियो का जाल उपस्थित कर देता है। जिससे यदा-कदा मनुष्यों मे विवाद छिड़ जाता है। अतः शब्दों के साथ अर्थ का सम्वन्ध सदैव ध्यान मे रखना चाहिए और शब्द हमारे भावो को यथा तथ्य रूप मे व्यक्त करने मे समर्थ रहे, इस ओर ध्यान रखना चाहिए। अर्थशून्य अलकार-चमत्कारो का प्रयोग ज्ञान की गरिमा का प्रकाशक नहीं। कवि ने ठीक ही कहा है :—

मैं वहन कर सकू जनमन में अपने विचार।
वाणी मेरी क्या तुझे चाहिए अलकार।

सवाई माधोपुर :—दि० २२ जून १९७२

एकान्तवास

: ११० :

जितेन्द्रिय अर्थात् सयम-सिद्धि को प्राप्त महान् आत्माओं की वात अलग है परन्तु सामान्यतया सिसाधयिषु व्यक्ति के लिए एकान्तवास मनोविकारों की उत्पत्ति एव उत्तेजना मे सहायक होता है। वहुधा सुसुप्त वासनाओं की चिनगारी एकान्त वातावरण मे भडककर विकराल भोगाग्नि का रूप धारण कर लेती हैं, जिससे जीवन का पतन हो जाता है। अतः एकान्तवास सामान्य-पुरुष के लिए घातक है।

सवाई माधोपुर :— दि० २३ जून १९७२

क्रोध की अग्नि और शान्ति का जल

: १११ :

आग से आग कभी शान्त नहीं होती। आग से आग भड़कती है। उसी प्रकार क्रोध से क्रोध तथा वैर से वैर कभी शान्त नहीं होता। वस्तुतः आग को शमन करने का उपाय जल है और क्रोध तथा वैर को शान्त करने का उपाय सहनशीलता एवं क्षमा है। उफनते हुए दूध को जल के छींटों से शान्त किया जा सकता है, इन्धन के ज्वलन से नहीं। तद्वत् शान्ति क्षमा और सहनशीलता के जल से सामने वाले व्यक्ति के क्रोध तथा द्वेपाग्नि को शान्त करना चाहिए।

सवाई माधोपुर :—दि० २४ जून १९७२

अमूल्य क्षण

: ११२ :

विशेष मननीय चिन्तन किन्ही अमूल्य एव विशिष्ट क्षणो मे चलता है। वही चिंतन अमूल्य एव विशिष्ट होता है। बाहुबली बुद्ध, चन्दनबाला आदि के जीवन इसके प्रमाण हैं। जैसे सारयुक्त अल्प भोजन भी शरीर को पुष्ट करता है, उसी प्रकार सद्ज्ञान-प्रकाशक एक क्षण मे भी सम्पूर्ण जीवन को ज्ञान-परिपुष्ट कर देता है। अतः चिंतन मे काल-परिमाण का महत्व नहीं है।

सवाई माधोपुर :—दि० २५ जून १९७२

वर्तमान के क्षण

: ११३ :

वर्तमान में खोये हुए क्षणो का मूल्य तब अंकित होता है, जबकि वे भूत के अनन्त गर्भ मे विलीन हो जाते हैं। किन्तु फिर उनके लिए परिताप से कुछ भी लाभ नहीं होता, उल्टे वर्तमान के क्षणो की हानि होती रहती है। अतः वर्तमान के प्रत्येक क्षण को कीमती समझकर सत्कार्य सम्पादन मे उसका सदुपयोग करना चाहिए अन्यथा जीवन पश्चात्ताप मे ही बीतता जायेगा।

सवाई माधोपुर :—दि० २६ जून १९७२

भूल और पतन

: ११४ :

लघु भूलों की उपेक्षा करने पर जीवन मे बड़ी भूलों का प्रवेश निर्बाध रूप से होने लगता है। आरम्भ मे भूल का प्रवेश खटकता है परन्तु अभ्यस्त हो जाने पर वे बडी भूलें भी नगण्य सी प्रतीत होने लगती है। फलस्वरूप भूलो से सम्पूर्णतया परिवेष्टित जीवन पतन की ओर बढता चला जाता है। अतः आरम्भ मे ही भूल-प्रवेश पर रोक लगानी चाहिए। ठीक ही कहा हैं—"रोग, त्रुटि और शत्रु को छोटा समझकर उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।"

सवाई माधोपुर :—दि० २७ जून १९७२

मानसिक स्वच्छता और सत्य

: ११५ :

जब तक सत्य भाषण मे मनोजगत की स्वच्छता का सयोग नहीं होगा, तब तक उसका प्रभाव लोगों पर कुछ भी नहीं पड़ेगा। सुन्दर से सुन्दर भाषा मे व्यक्त सत्य भी, लोगो के विश्वास को मानसिक सरलता एव निश्छलता से ही प्राप्त कर सकता है। इसीलिए सत्य वक्ता को निश्छल हृदय होना चाहिए। कपट-कटुता से बोला हुआ सत्य लोगों मे प्रतिष्ठा नहीं पा सकता।

सवाई माधोपुर :—दि० २८ जून १९७६

आवरण पृष्ठ

: ११६ :

आज का मानव आवरण-रहस्य के छद्म जाल मे व्यामोहित होता जा रहा है। आवरण की सुन्दरता और आभ्यन्तर की असुन्दरता देखकर ऐसा लगता है कि कृत्रिमता का साम्राज्य चतुर्दिक फैल गया है। न केवल व्यक्तियों का मानस-पटल ही, अपितु ससार की सामान्य वस्तुए भी आवरण मे मन को मुग्ध करती हैं। उदाहरण के लिए पुस्तक को ही लीजिए। ऊपर भडकीले मुखपृष्ठ पर पुस्तक का नाम 'सत्साहित्य' छपा हुआ है परन्तु खोलकर पढने पर सत् और साहित्य दोनो ही गायब दिखलाई पडते है।

आवरण को हटाकर सत्य का दर्शन करना पहुचे हुए विद्वान्, मेधावी और महात्मा का ही कार्य है।

सवाई माधोपुर :—दि॰ २९ जून १९७२

ममतान्धता

: ११७ :

ममता का स्वरूप न केवल व्यक्तिगत जीवन मे, अपितु समाज एव संघीय जीवन मे भी दिखलाई पड़ता है। व्यक्ति जिस समाज या सघ मे रहता है, उसके प्रति ममतान्धकार इतना घना हो जाता है कि उसे 'स्व' के सिवाय कुछ अन्य सूझता ही नहीं। ऐसी स्थिति मे व्यक्ति दूसरे के प्रति अनुदार एव दुश्चिन्त हो जाता है, जिससे वह अनेक तरह के व्यक्ता-व्यक्त पापो का भागी होता रहता है। अतः जीवन मे 'स्व' की रक्षा के साथ 'पर' का आदर भी होना चाहिए।

सवाई माधोपुर :—दि० ३० जून १९७२

सम्प्रदाय बुरा नहीं है

: ११८ :

शाब्दिक विवेचन 'सम्प्रदाय' शब्द की महत्ता एव गरिमा को व्यक्त करता है परन्तु व्यवहार मे जो विकृति इस शब्द मे प्रविष्ट हो गई है उसका कारण लोगो को अपने मत का अन्धानुकरण तथा दूसरे मतों के प्रति अनुदार नीति है। वर्तमान मे होने वाले सघर्षों ने इस शब्द को और भी नीचे ढकेल दिया है। परिणामतः साम्प्रदायिक भावना को लोग हेय समझते हैं। आज साम्प्रदायिक-भावना सकीर्ण भावना के रूप को अपना चुकी है। इसलिए लोग सम्प्रदाय आदि का विरोध करते हैं। इस शब्द के पुनरुद्धार के लिए हमे अपने आचरण, व्यवहार और क्रिया द्वारा इसकी व्यापकता को जन-समुदाय के समक्ष स्थापित करना होगा और सब प्रकार की अच्छाइयों के प्रति दिल खुला रखना होगा।

सवाई माधोपुर :—दि० १ जुलाई १९७२

कार्याभ्यास

: ११६ :

कार्य का निरन्तराभ्यास स्वयमेव तत्सम्बन्धी पटुता प्रदान करता है अतः कार्यारम्भ मे किंचित सफलता या असफलता को देखकर निराश नहीं होना चाहिए। कोई भी व्यक्ति जन्म से सब सीख कर नहीं आता है, अपितु अभ्यास और क्रिया से ही वह सीखता है। अतः कार्य करते रहना स्वय मे एक शिक्षा है।

सवाई माधोपुर :— दि० २ जुलाई १९७२

स्वाभाविक-सौन्द

: १२० :

सजावट की आवश्यकता वहा होती है, जहां स्वाभाविक सौन्दर्य मे कमी हो। स्वाभाविक सौन्दर्य जहाँ जगमगाता है, वहां सजावट फीकी पड जाती है। परन्तु स्वाभाविक सौन्दर्य कम होने पर व्यक्ति उसकी पूर्ति कृत्रिम सजावट साधनों से पूरी करना चाहता है। अतः जहा कृत्रिम सजावट की तडक भडक है, वहा समझ लेना चाहिए कि स्वाभाविक सौन्दर्य की न्यूनता या अभाव है।

सच्चा साधक स्वाभाविक-सौन्दर्य मे वृद्धि करता है, न कि कृत्रिम सौन्दर्य मे। स्वाभाविक सौन्दर्य है आध्यात्मिकता एव गुण-सम्पन्नता।

आलनपुर :— दि० ३ जुलाई १९७२

सुविधायें और साधना

: १२१ :

सुविधाओं की ओर आकर्षित होना मन को धीरे-धीरे पराधीन बना देता है। एक दिन ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है कि सुविधा पर अवलम्बित होकर मानव स्वयं की शक्ति को खो देता है और निष्क्रिय हो जाता है इसीलिए भारत का साधक-जीवन सदैव सुविधाओं के मोहक जाल से मुक्त रहा है। आजकल साधक भौतिक-सुविधाओं की छाया मे साधना को सम्पन्न करना चाहता है, जिससे उसकी साधना आत्मा की न होकर भौतिक साधनों की होने लगती है। अत सुविधाओं को आध्यात्मिक जीवन मे शिथिलता उत्पन्न करने वाली समझकर त्याग देना चाहिए।

बलोधा :— दि० ४ जुलाई १९७२

स्वास्थ्य औरं साधना

: १२२ :

आध्यात्मिक-साधना में शारीरिक स्वस्थता भी आवश्यक है। अस्वस्थ शरीर साधना-निरत होने में असमर्थ रहता है। जो व्यक्ति अस्वस्थता के कारण उठने-बैठने आदि मे भी कष्ट का अनुभव करता है, वह भला साधना क्या करेगा ? अतः शरीर को स्वस्थ रखना साधक के लिए आवश्यक है। तन और मन दोनो सम्मिलित रूप से साधना के आधार हैं। 'स्वस्थ शरीर मे स्वस्थ मन रहता है' उस उक्ति के अनुसार कुछ अशों मे मन भी तन की स्वस्थता पर अवलम्बित है। अतः स्वास्थ्य रक्षा की ओर भी विशिष्ट ध्यान दिया जाना चाहिए।

चोथ का वरवाड़ा :— दि० ५ जुलाई १९७२

शब्द और अर्थ

: १२३ :

शब्दो के मूल अर्थ सदैव एक से रहते है परन्तु उनके वाह्यार्थ मे देश, काल एव समाज स्थिति के अनुरूप परिवर्तन होते रहते हैं। भाषा-विज्ञान इस प्रसग पर बडा रोचक प्रकाश डालता है। एक ही शब्द वाह्य प्रसगों मे अनेकार्थ प्रकाशक हुआ है। अतः केवल वाह्यार्थ-भेदक परिभाषा को पकडकर शब्दों का संघर्ष सर्वथा अज्ञानपूर्ण है। आज के सैद्धान्तिक मतभेदों मे यह शब्दार्थ भ्रम भी एक कारण है। यदि हम इस भेदकारक कारणों का निवारण कर दें तो पारस्परिक एकता का अच्छा दर्शन हो सकता है।

पांव डेरा :— दि० ६ जुलाई १९७२

जिन्दगी योंही तमाम होती है

: १२४ :

आज एक एस० पी० साहब के मुख से अचानक सुनने का सयोग मिला— "सुबह की शाम होती है, जिन्दगी योंही तमाम होती है" इसी उक्ति पर चिंतन चल पडा और एक शास्त्रीय उक्ति का स्मरण हो आया "जा आ वच्चइ रयणी, न सा पडिनियतई" अर्थात् जो समय चला जाता है वह पुनः लौटकर नहीं आता है। इसी को लेकर जीवन के प्रति सोचने लगा—समय जा रहा है और उपलब्धि अभी तक कुछ भी नही हुई। भविष्य मे जागरकता का आभ्यन्तरिक सदेश मिला और प्रेरणादायिनी स्फूर्ति का अनुभव हुआ।

ईसरिया का स्टेशन :— दि० ७ जुलाई १९७२

सुविधायें और साधना

: १२१ :

सुविधाओं की ओर आकर्पित होना मन को धीरे-धीरे पराधीन वना देता है। एक दिन ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है कि मुविधा पर अवलम्बित होकर मानव स्वय की शक्ति को खो देता है और निश्क्रिय हो जाता है इसीलिए भारत का साधक-जीवन सदैव सुविधाओ के मोहक जाल से मुक्त रहा है। आजकल साधक भौतिक-सुविधाओ की छाया मे साधना को सम्पन्न करना चाहता है, जिससे उसकी साधना आत्मा की न होकर भौतिक साधनो की होने लगती है। अत सुविधाओ को आध्यात्मिक जीवन मे शिथिलता उत्पन्न करने वाली समझकर त्याग देना चाहिए।

वलोया :— दि० ४ जुलाई १९७२

स्वास्थ्य औरं साधना

: १२२ :

आध्यात्मिक-साधना मे शारीरिक स्वस्थता भी आवश्यक है। अस्वस्थ शरीर साधना-निरत होने मे असमर्थ रहता है। जो व्यक्ति अस्वस्थता के कारण उठने-बैठने आदि मे भी कष्ट का अनुभव करता है, वह भला साधना क्या करेगा ? अतः शरीर को स्वस्थ रखना साधक के लिए आवश्यक है। तन और मन दोनों सम्मिलित रूप से साधना के आधार हैं। 'स्वस्थ शरीर मे स्वस्थ मन रहता है' उस उक्ति के अनुसार कुछ अशों मे मन भी तन की स्वस्थता पर अवलम्बित है। अतः स्वास्थ्य रक्षा की ओर भी विशिष्ट ध्यान दिया जाना चाहिए।

चोथ का बरवाडा :— दि० ५ जुलाई १९७२

शब्द और अर्थ

: १२३ :

शब्दो के मूल अर्थ सदैव एक से रहते है परन्तु उनके वाह्यार्थ मे देश, काल एव समाज स्थिति के अनुरूप परिवर्तन होते रहते हैं। भाषा-विज्ञान इस प्रसग पर बड़ा रोचक प्रकाश डालता है। एक ही शब्द वाह्य प्रसगों मे अनेकार्थ प्रकाशक हुआ है। अतः केवल वाह्यार्थ-भेदक परिभाषा को पकडकर शब्दो का संघर्ष सर्वथा अज्ञानपूर्ण है। आज के सैद्धान्तिक मतभेदों मे यह शब्दार्थ भ्रम भी एक कारण है। यदि हम इस भेदकारक कारणों का निवारण कर दें तो पारस्परिक एकता का अच्छा दर्शन हो सकता है।

पांव डेरा :— दि० ६ जुलाई १९७२

जिन्दगो योंही तमाम होती है

: १२४ :

आज एक एस० पी० साहब के मुख से अचानक सुनने का सयोग मिला— 'सुबह की शाम होती है, जिन्दगी योंही तमाम होती है" इसी उक्ति पर चिंतन चल पडा और एक शास्त्रीय उक्ति का स्मरण हो आया "जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियतई" अर्थात् जो समय चला जाता है वह पुनः लौटकर नहीं आता है। इसी को लेकर जीवन के प्रति सोचने लगा—समय जा रहा है और उपलब्धि अभी तक कुछ भी नही हुई। भविष्य मे जागरकता का आभ्यन्तरिक सदेश मिला और प्रेरणादायिनी स्फूर्ति का अनुभव हुआ।

ईसरिया का स्टेशन :— दि० ७ जुलाई १९७२

आधा घट डब डब करैं

: १२५ :

विद्वता का अहं व्यक्ति को वाचाल बना देता है। अल्पज्ञ होकर भी किसी विषय विशेष पर घन्टों बोलने का अभिमान पूर्ण आकांक्षा प्रतिपल मन को उछालती रहती है। ठीक ही कहा है : –'अर्धोघटो घोषमुपैति नून' अर्थात् थोथा चना बाजे घना। किसी अन्य कवि की उक्ति भी इस पर ठीक लागू होती है :—

आधा घट डब डब करै, भरिया होत गभीर।
ज्ञानी बक झक ना करें, शान्त चित्त अति धीर।

सीरस :— दि० ८ जुलाई १९७२

घटनात्मक अनुभूति की स्थिरता

: १२६ :

जो अनुभव उपदेशो से तथा अन्याय कारणो से उपलब्ध नहीं हो पाता, वह जीवन की किसी विशेष घटना के आघात से प्राप्त हो जाता है और वही अनुभव जीवन मे स्थायीत्व रूप लेता है। इतिहास मे भी इस प्रकार की घटनात्मक अनुभूतियां परिलक्षित होती आ रही हैं। अतः शम-दम आदि के उपदेशो की अपेक्षा जीवन के एतत् सम्बन्धी अनुभव अधिक प्रभावशाली सिद्ध होते हैं।

निवाई :— दि० ९ जुलाई १९७२

कषाय-मुक्ति

: १२७ :

कषाय-मुक्ति के लिए चिंतन तो भीतर ही भीतर बहुत चलता है, परन्तु कषाय-मुक्ति शीघ्र नहीं हो पाती है क्योंकि मन और इन्द्रियों की सबलता इसमे बाधक है। अस्तु जबतक मन और इन्द्रियो पर विजय प्राप्त नहीं की जाएगी तब तक मृत्तिका दोहनवत् कषाय मुक्ति की समस्त क्रियायें निरर्थक ही होंगी।

निवाई :— दि० १० जुलाई १९

घटनाओं का सिंहावलोकन

: १२ :

जीवन मे भली-बुरी कितनी ही घटनायें घटित होती रहती हैं। अधिकांशतः बुरी घटनाओं की सख्या तुलना मे अधिक होती है। दोनों ही प्रकार की घटनायें हमारे जीवन मे परिवर्तन उपस्थित करती हैं। अच्छी घटनायें जहां जीवन को प्रोन्नत बनाती हैं, वहा बुरी घटनायें उसे पतित कर देती हैं। अतः आरम्भतः बुरी घटनाओं पर सजगता के साथ दृष्टि डालते रहे तो उनसे बचा जा सकता है और जीवन को सात्विक सुख-सम्पन्न तथा आनन्दमय बनाया जा सकता है।

मूडिया :— दि० ११ जुलाई १९७२

विवेक और भावना

: १२६ :

मानव भावनाशील प्राणी हैं, यह सत्य है। परन्तु वह वुद्धि और विवेक का अनादर कर केवल भावना या भावुकता से ही जीवन-क्षेत्र मे सिद्धि नहीं पा सकता। प्राय: देखा जाता है कि भावान्ध व्यक्ति युक्तायुक्त को सोचने मे असमर्थ होता है और भावुकता के आवेग मे अकरणीय कार्य को भी कर जाता है, जिससे अपनी तथा अन्य की हानि कर बैठता है। अतः निरी भावुकता एक प्रकार का अन्धापन है उसे विवेक तथा वुद्धि की आंखे प्रदान करना आवश्यक है ताकि उनके माध्यम से गन्तव्य की उपलब्धि की जा सके। तात्पर्य यह है कि भाव और वुद्धि का गठबंधन ही जीवन की सम्पूर्णता है। इसी मे हमे विवेकपूर्ण श्रद्धा का निखरा हुआ रूप दृष्टिगोचर होता है।

कोथून '— दि० १२ जुलाई १९७२

अन्तः-संगीत

: १३० :

सगीत अथवा भजन की स्वर-लहरी तभी प्रभावशालिनी सिद्ध होती है, जबकि वह गायक के अन्तर्मन से प्रस्फुटित हो। स्वय की अन्तर भावना से रहित सगीत न तो 'स्व' के लिए आनन्ददायक होता है और न 'पर' के लिए। वास्तव मे तथाकथित देश, काल, समाज, जाति, एव धर्म की सीमा से मुक्त अन्तः सगीत निर्विकार ब्रह्मानन्द की अनुभूति है।

चाकसू गीता भवन :—दि० १३ जुलाई १९७२

करणीय अकरणीय

: १३१ :

करणीय की उपेक्षा और अकरणीय की अपेक्षा मानव जीवन को दिग्भ्रान्त कर देती है। सत्य, अहिंसा, सयम आदि करणीय हैं तथा असत्य, हिंसा, असंयम आदि अकरणीय है। प्रत्येक मानव अपने ऊपर ही अपना अधिकार रखता है, अत करणीय के लिए वह स्वतन्त्र है। उसे दूसरों से करवाने के लिए वह पराधीन है। ऐसी स्वतन्त्रता के प्रति अनुरक्ति ही दु:ख का कारण है। अत' स्वकरणीय का सम्पादन कर जीवन को सफल बनाना चाहिए। यदि हमारा करणीय उपादेय होकर दूसरों के लिए भी अनुकरणीय बन जाय तो एक महान् आदर्श की प्रतिष्ठा होगी।

शिवदासपुरा :—दि० १४ जुलाई १९७२

वहिर्वृत्तियों पर संयम

: १३२ :

यदि अन्तर्वृ त्ति जागृत हुए विना केवल वाह्य परिस्थितियों से उत्प्रेरित होकर मानव वैराग्य-पथ पर चल पडता है तो आगे चलकर वह अपने को असमर्थ अनुभव करने लगता है। कारण उसकी वहिर्मु खी वृत्ति उसे पुनः पुनः ससार के राग-रग-भोग आदि की तरफ खींचती रहती है, जिससे वैराग्य मे मन स्थिर नहीं होता। अतः वैराग्य पथावलम्वी को अपनी वहिर्मु खी वृत्ति को अन्तर्मु खी वनाने का निरन्तर साधना-जन्य अभ्यास करते रहना चाहिए ताकि वह सर्वथा सयम में प्रतिष्ठित हो सके।

सांगानेर गौशाला :— दि० १५ जुलाई १९७२

अन्तः उपासना

: १३३ :

साधना एव साधुत्व का सम्बन्ध साधक की अन्तर्वृत्ति के साथ होता है। बाह्य-परिधानो, वेश-भूषाओ, व्यक्ति-समूहो तथा अन्यान्य पदार्थों का सम्बन्ध केवल सामाजिक एव व्यावहारिक दृष्टि से होता है। इस सम्बन्ध को प्रधानता देकर आत्म-सम्बन्ध को गौण कर देने से मूल लक्ष्य हाथ से छूट जाता है। अतः अन्तर् की ओर सावधान रहकर ही बाह्य का उपयोग करना चाहिए।

बापू नगर, जयपुर :— दि० १६ जु

वालादपि हितो ग्राह्यम्

: १३४ :

वहुधा जो व्यक्ति अपनो ही वात को सत्य समझकर कार्य प्रवृत्त रहता है और दूसरे के सत्य एव हित वचनो का महत्त्व दम्भ के कारण स्वीकार नहीं करता, वह कभी-कभी महत्त्वपूर्ण लाभ से वचित रह जाता है। वह नहीं समझता कि कभी-कभी छोटा समझा जानेवाला व्यक्ति भी महत्त्वपूर्ण वात कह देता है जिसे स्वीकार करने मे वडा लाभ हो सकता है। अतः सत्य और हितकारी विचार सभी के ग्रहण कर लेना चाहिए। दुराग्रह नहीं करना चाहिए। कहा भी है—"वालादपि हितो ग्राह्यम्"।

वापू नगर, जयपुर :— दि० १७ जुलाई १९७२

रोग और उसके निवारण

: १३५ :

आज के मानव-समुदाय मे रोगो का प्रचार-प्रसार अधिक देखा जाता है। इसके मूल मे भोगाकुल असयमित जीवन तथा विभिन्न प्रकार की दुश्चिन्तायें हैं। इन दोनो के विस्तार से अनेक प्रकार की शारीरिक और मानसिक आधिव्याधियां पनप रही हैं, जिससे मानव-जीवन अशान्त हो रहा है। बाह्योपचार रोगो का मूलोच्छेद करने मे समर्थ नहीं हो पा रहे हैं, अत आज सयममय एव चिन्तामुक्त वातावरण पैदा करने की आवश्यकता है। इसी के लिए हमारी धार्मिक एव नैतिक प्रक्रियायें है।

बापू नगर, जयपुर :— दि० १८ जुलाई १९७२

जीने की कला

: १३६ :

जीवन उसी का है, जो जीने की कला जानता है। कला-विहीन जीवन केवल क्रिया-सचालित यन्त्र मात्र है, जिसे यह भी पता नहीं कि वह ऐसा क्यों करता है। ऐसी यान्त्रिक जीवन-परम्परा मे जीवन का उपयोग नही जाना जा सकता। जीवन की दैनिक क्रियाओ का गभीरतापूर्वक सिहावलोकन किया जाय तो प्रत्येक प्रवृत्ति का सम्यक् ज्ञान होने लगेगा। फलतः प्रवृत्तियो की उपयोगिता-अनुपयोगिता समझकर हमे जीने की कला को इतस्ततः खोजना नहीं पडेगा और उसकी उपलब्धि 'स्व' मे ही हो जायगी।

कबूजी का बगला, जयपुर दि० १६ जुलाई १६७२

भीड़ और व्यक्तित्व

: १३७ :

जीवन मे कुछ ऐसे प्रसग एव दिवस आते हैं, जिनकी आवृति प्रति वर्ष होने पर भी वे कुछ नवीन से लगते है। आज का जयपुर-नगर प्रवेश का दृश्य भी कुछ नवीन-सा, विचित्र-सा परि-लक्षित हुआ। स्वागत मे अपार भीड उपस्थित हुई थी। प्रवेश के समय भीड साथ-साथ चल रही थी। उसे देखकर मनमे एक दार्शनिक भाव जाग उठा—इस भीड मे न जाने कितनी प्रतिभायें चल रही हैं, जिनका सभवतः ज्ञान हमे न हो सकेगा। हमारा परिचय कुछ एक मुखियाओ से ही बना रहेगा। वास्तव मे उपल-समूह मे से रत्नों को खोज निकालना क्या हमारे लिए सहज होगा ? यह एक समस्या है।

लाल भवन, जयपुर :— दि० २० जुलाई १९७२

रूपासक्ति

: १३८ :

वाह्याकर्षण मे फसा हुआ व्यक्ति अपने जीवन के कतिपय महत्त्वपूर्ण कार्यों की उपेक्षा कर देता है, परिणामस्वरूप निर्माण एव उपलब्धियों के कीमती क्षण हाथ से निकल जाते हैं। प्रत्येक इन्द्रिय के साथ एक विषयासक्ति का सम्बन्ध है। इनमे चक्षु-इन्द्रिय के साथ रूप की आसक्ति, जुडी रहती है। वास्तव मे यह आसक्ति अत्यन्त पतनकारिणी है। रूपासक्त व्यक्ति रूपी-पदार्थ को प्राप्त करने के लिए कभी-कभी इतना आकुल हो जाता है कि उसे उसके सिवाय कुछ भी अच्छा नहीं लगता। इस तरह आसक्ति-जाल मे फसकर वह विकृतियों का शिकार होता जाता हैं। अतः दृष्टि पर विजय पाना सर्वप्रथम आवश्यक है।

लाल भवन, जयपुर :— दि० २१ जुलाई १९७२

वाचालता

: १३६ :

वाचाल व्यक्ति अपनी वाणी पर नियत्रण रखने मे असमर्थ होता है। फलस्वरूप वह यदा तदा कुछ न कुछ ऐसे शब्द मुख से निकल बैठता है, जो प्रासगिक होकर भी अपर व्यक्तियो के लिए पीडा कारक हों। परिणामतः वह व्यर्थ ही अपनी वाचलता के कारण अनेक के क्रोध, द्वेष एव वैर का भाजन बनता है। अतः वाक्सयम वक्ता का विशेष गुण होना चाहिए।

लाल भवन, जयपुर :—दि० २२ जुलाई १९७२

नियमितता

: १४० :

समय की नियमितता ही साधक को सिद्धि प्रदान करती है। जो समय की कीमत नहीं पहचानता, वह स्वय भी कीमती नहीं वन सकता। प्रायः साधारण वातो मे हम अपने समय का अपव्यय कर साधना के महत्त्वपूर्ण क्षण खो देते हैं। समय का सदुपयोग एव उसकी नियमितता ही पहली साधना है। शास्त्रोक्ति भी है :—"काले काल समायरे"

लाल भवन, जयपुर : दि० २३ जुलाई १९७२

अनुकरण

: १४१

अन्धानुकरण के कारण जीवन की स्वाभाविक वृत्तियां भी दूषित हो जाती है। जब तक हम स्वाभाविक रूप से अपने आपके चिंतन मे चलते है, तब तक निर्मल हैं और विवेक विचारपूर्वक परानुकरण भी उस निर्मलता को बनाये रखता है। परन्तु बिना सोचे समझे आखें बन्द कर किसी के पीछे चलने से दूसरो को बुराइया हमारे भीतर प्रवेश कर जायेंगी और निर्मलता का नाश हो जायेगा।

लाल भवन, जयपुर :— दि० २४ जुलाई १९७२

उपलब्धि और सिद्धि

: १४२ :

सामान्य उपलब्धि के बल पर भी व्यक्ति कभी कभी अहकार-वश महान् उपलब्धि की भ्रान्त धारणा मनमे बैठा लेता है। फलस्वरूप वह सामान्य उपलब्धि उसके जीवन-विकास-क्रम को रोक देती है। वस्तुतः उपलब्धि जीवन के चरम लक्ष्य की सिद्धि नहीं है क्योंकि उपलब्धियां क्रमशः हमारे जीवन मे प्रवेश करती रहती हैं। जीवन का अन्तिम लक्ष्य साधना के द्वारा चरम साध्य की सिद्धि करना है। अतः उस चरम साध्य की सिद्धि तक साधना क्रम अभंगरूप से चालू रखना चाहिए और प्राप्त उपलब्धियों पर अहकार नहीं करना चाहिए।

लाल भवन, जयपुर :— दि० २५ जुलाई १९७२

व्यस्तता

: १४३ :

प्रात जागरण वेला से लेकर रात्रि को सोने के समय तक मन को सत्कार्यो मे व्यस्त रखना ही साधना की सफलता है। जहां व्यस्तता का क्रम-भग हुआ कि मन व्यर्थ की बातों मे उलझकर या रमणकर समय का अपव्यय करने लगता है। इसलिये मन को प्रतिपल सत्कार्यो मे सलग्न रखना चाहिए।

लाल भवन, जयपुर :— दि० २६ जुलाई १९७२

व्यापक दृष्टि

: १४४ :

जीवन की पूर्णता के सम्पादन में किसी एक विषय या एक ही दृष्टिकोण की उपादेयता नहीं है। जीवन बहुत सी उपादेय-ताओ द्वारा गठित एक चेतन प्रक्रिया है। अतः किसी एक पहलू से जीवन के बारे मे सोचना-समझना भारी भूल होगी। हमे जीवन के सर्वतोमुखी विकास पर ध्यान देकर दृष्टि को व्या-पक बनाना चाहिए।

लाल भवन, जयपुर : – दि० २७ जुलाई १९७२

कार्यारंभ का समय

: १४५ :

मानसिक अस्थिरता के विभिन्न कारणों मे से एक कारण हाथ मे लिये गये कार्य की असफलता भी है। मनुष्य जव वडे उत्साह से आरम्भ किये गये कार्य को विगड़ा देखता है, तो वह खेद तथा निराशा से भर जाता है और उसका मन अशान्त और वैचेन हो जाता है। ऐसी स्थिती मे यदि नई योजना तथा नये कार्यक्रम का निर्माण किया जायेगा तो उसमे भी अस्थिरता एव अस्थायित्व की व्याप्ति ही रहेगी। अतः किसी भी नवीनारभ से पूर्व मन का स्थिर होना अत्यावश्यक है।

लाल भवन, जयपुर :— दि० २८ जुलाई १९७२

दमन-शमन

: १४६ :

दमन की पद्धति से दबी हुई कामुक वृति थोडा सा अनुकूल वातावरण पाकर और अधिक रूप मे उद्दीप्त हो उठती है। अतः दमन इसके निवारण का सर्वत्र सदैव कारण नहीं हो सकता। दूध के नीचे यदि अग्नि जलती रहेगी तो ऊपर से दिया हुआ ठडे जल का छींटा उसे क्षणिक शान्त ही कर सकेगा। तत्वतः दमन की अपेक्षा शमन पद्धति अधिक लाभदायक है। यदि आहार-विहार वातावरण आदि को स्वच्छ रखा जाये अर्थात् काम-भावना पैदा करने वाले आहार-विहार वातावरण आदि को उपस्थित ही न होने दिया जाये तो ऐसी वृति की उत्पत्ति ही नहीं होगी और यदि वह पूर्वमेव विद्यमान है तो शमित रहेगी। यही एक उपाय है।

लाल भवन, जयपुर :— दि० २९ जुलाई १९७२

समय की पहचान

: १४७ :

प्रायः हम लोग अपना अधिकांश समय व्यर्थ वार्तालाप एवं गप्प-गोष्ठियों मे खोते रहते हैं। उस समय की कीमत नहीं आंकी जा सकती। परन्तु ज्योंही किसी सत्कार्य मे अथवा अध्ययन मे समय सयोजित करते हैं, हमे उसकी कीमत का पता चलता है। अतः समय की उपयोगिता पहचानने के लिए वस्तुतः सत्कार्य में प्रवृत्त होना नितान्तावश्यक है। जो केवल समय की दुहाई देते है और उपयोग मे शिथिलता दिखलाते हैं, वे स्वयं को ठग रहे है।

लाल भवन, जयपुर :— दि० ३० जुलाई १९७२

संकीर्ण दृष्टि

: १४८ :

दोष-दर्शन मे भी हमारी दृष्टि सकीर्णताओ से भरी रहती है। जिस व्यक्ति से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं होता, अथवा किसी स्वार्थ की पूर्ति नहीं होती, उसके दोषो का हम विस्तार-पूर्वक खडी भाषा मे वर्णन करते हैं और उसके गुणों की ओर हमारी दृष्टि नहीं जाती। इसके विपरीत जिस व्यक्ति से हमारा पारिवारीक अथवा स्वार्थबद्ध सम्बन्ध है, हम उसके दोषों को छिपाते है और उसके साधारण गुणों का भी असाधारण भाषा मे वर्णन करते हैं। यह व्यवहार उभयदृष्टि से कर्मबन्ध का कारण हैं। अतः दोष चाहे 'पर' का हो चाहे अपने का, उसकी ओर दृष्टिपात न करना अथवा परिमार्जन की दृष्टि रखना ही श्रेयस्कर है।

लाल भवन, जयपुर :— दि० ३१ जुलाई १६७२

सिद्धान्त और व्यवहार

: १४६ :

जहां तक सिद्धान्त के प्रति आग्रह का प्रश्न है, हम उसके कट्टर समर्थक एव पोषक हैं। मान्य सिद्धान्त के विपक्ष मे कुछ सुनकर हम सघर्ष भी ठान सकते हैं। परन्तु व्यवहार मे सिद्धान्त को उतारने की बात चलते ही हम अपने आपको शून्य पाते हैं। ऐसी स्थिति मे जीवन का कल्याण कैसे सम्भव है? कहा भी है :—'ज्ञान भारः क्रियां विना" अस्तु जीवन मे सिद्धान्त को व्यावहारिकता प्रदान करनी चाहिए।

लाल भवन, जयपुर :— दि० १ अगस्त १९७२

आत्मीय आदर्श और पाश्चात्य संस्कृति

: १५० :

आत्मीय महापुरुषों के आदर्शों का अनुकरण जीवन को आदर्श मे ढालता है क्योंकि उन आदर्शों मे हमारी आध्यात्मिक, सास्कृतिक, नैतिक और धार्मिक ज्योति का प्रकाश भरा रहता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति के लिए अपने आदर्शों का अनुसरण एव ज्ञान लाभदायक है। आज जो हम पाश्चात्य आदर्शों, सभ्यता तथा सस्कृति का अन्धानुकरण कर रहे हैं और अपने को आगे बढा हुआ मानते हैं, यह एक भारी भूल है। इससे हम फैशन का शिकार बनकर भारी आर्थिक संकट का सामना कर रहे हैं और अपने आदर्शों को खोकर स्वय की सस्कृति को आघात पहुचा रहे है। अतः आत्मीय आदर्शों के प्रति निष्ठा होना अत्यन्तावश्यक है।

लाल भवन, जयपुर :— दि० २ अगस्त १९७२

परम्परा का आग्रह

: १५१ :

आखें बन्द करके परम्परा का अनुसरण करने वाला व्यक्ति उसकी देश कालात्मक उपयोगिता को नहीं समझता बल्कि अपने आग्रहों का दास बनकर दूसरे की तथ्यपूर्ण बात को भी स्वीकार करने मे सर्वथा असमर्थ होता है। इस प्रकार सहनशीलता जैसा माननीय गुण जीवन मे विलुप्त हो जाता है और व्यक्ति आत्म-मान्यता के विरुद्ध सघर्ष तथा हत्या जसे कुकृत्यों को भी कर डालता है। धार्मिक क्षेत्र मे भी जब तक परम्परा का अन्धानुकरण रहेगा, तब तक जन-जीवन मे धर्म का कल्याणकारी रूप प्रति-भासित नहीं होगा और समान्य बातों को लेकर पारस्परिक तनाव बना रहेगा।

लाल भवन, जयपुर :— दि० ३ अगस्त १९७२

एकाग्रता

: १५२ :

साध्य के प्रति एकाग्रता साधना को सिद्धि मे परिवर्तित कर सकती है। साध्य चाहे भौतिक हो या अभौतिक, एकाग्रता प्रत्येक स्थिति मे आवश्यक है। उदाहरण के लिए जैसे वाह्य कार्य—व्यापार, लेखन, पठन, रत्नादि-परीक्षण में एकाग्रता मानव को प्रवीणता प्रदान करती है, इसी प्रकार आत्म-चिंतन, आत्म-साधन तथा अन्यान्य धार्मिक भावना के सम्पोषण मे एकाग्रता (मनःस्थिरता) का होना आवश्यक है।

लाल भवन, जयपुर :— दि० ४ अगस्त १९७२

जीवन-संग्राम

: १५३ :

जीवन का क्षेत्र एक सग्राम-भूमि है, जिसमे व्यक्ति को विभिन्न परिस्थितियों का सामना करना पडता है। एक सच्चे योद्धा को भांति साहस और शौर्य के साथ लोहा लेने वाला व्यक्ति जीवन-सग्राम का सफल सिपाही कहलाता है। इस सग्राम भूमि मे कहीं कार्य सिद्धि-स्वरूप विजयश्री की प्राप्ति का हर्ष है तो कही कार्य विकलतारूपी पराजय का दु.ख है। कर्त्तव्यनिष्ठ, साहसी वीर योद्धा इन दोनो को समत्व भाव से देखता हुआ अपने कर्त्तव्य पर ही ध्यान रखता है क्योंकि कर्त्तव्य का पालन ही उसे शूरता के पद पर प्रतिष्ठित करता है। तत्त्व यह है कि जीवन-सग्राम मे घबराहट को छोड़कर साहस के साथ अपने कर्त्तव्य का पालन करते रहना चाहिए।

लाल भवन, जयपुर :— दि० ५ अगस्त १९७०

आचरण की विपरीतता

: १५४ :

वस्तुतः आज का जन जीवन निराशापूर्ण एव वैषम्यमय परिस्थितियों मे इसलिए गुजर रहा है कि उसका गति-सचार विवेकपूर्ण नहीं है। वह लक्ष्य तो पूर्व की ओर गमन का वनाता है और गति-प्रवृति ठीक उससे विपरीत पश्चिम की ओर करता है। वह कामना तो सुख और शान्ति की करता है परन्तु आचरण तद्विपरीत करता है। विकार-विजय की कामना करता हुआ वह विकारोत्तेजक साधनो की ओर अग्रसर हो रहा है। ऐसी स्थिति मे लक्ष्य-लाभ कैसे सम्भव हो ?

लाल भवन, जयपुर :— दि० ६ अगस्त १९७२

वाह्याभ्यन्तर साधना

: १५५ :

अन्तः शुद्धि-रहित साधना केवल साधना का भ्रान्त रूप ही कहा जा सकता है। वस्तुतः आन्तरिक शुद्धि-सम्पन्न साधना ही वास्तविक साधना है। साधना का व्यवहार इसीसे अनुप्राणित होता है। अतः व्यवहार-पक्ष के साथ अन्तः साधना (निश्चय पक्ष) का सयोजन परमावश्यक है। आजकल जन समुदाय वाह्याचारमयी साधना को तो अपनाता जा रहा है परन्तु अन्तः साधना की ओर विशेष ध्यान नहीं देता। इसीलिए साधना सर्वांग रूप मे जीवन मे प्रतिफलित नहीं हो रही है।

लाल भवन, जयपुर :— दि० ७ अगस्त १९७२

कृति विवाद

: १५६ :

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। अतः उसकी प्रत्येक गति-विधि एव क्रिया-कलाप का प्रभाव समाज पर प्रत्यक्षाप्रत्यक्षरूप से तथा क्रिया-प्रतिक्रियात्मक रूप से प्रतिफलित होता रहता है। इसमे भी जो व्यक्ति अपना उत्तरदायित्व विस्तृत कर लेता है, उसके आचरण व्यवहार तथा भाषाणादि का प्रभाव अधिक होता है। अतः उत्तरदायित्व वहन-कर्त्ता को बडी सावधानी से चलना पड़ता है। उसके सामने एक परम्परा मे बध कर चलने वाला जन समुदाय होता है, जो किसी भी नवीन बात को शीघ्र पचा नहीं पाता। आजकल 'अग्नि परीक्षा' के कथानक को तथा उसके कुछ अशो को लेकर कलहात्मक विवाद चल रहा है। यह किसी भी दृष्टि से किसी के लिए भी लाभदायक नहीं है। वैसे तो प्रायः लेखको ने रामकथा का गठन अपनी नवीन शैली मे किया है परन्तु जो बात ज्ञानाज्ञान से पकड ली जाती है, उसका छूटना कठिन हो जाता हैं। पौराणिक आख्यानो पर विशेष विवाद न कर सम्यक्भाव एव विचार से इस समस्या पर समाधान पा लेना चाहिए।

लाल भवन, जयपुर :— दि० ८ अगस्त १९७२

साहित्य में शब्द और अर्थ

: १५७ :

साहित्य मे शब्द और अर्थ दोनो का महत्त्व बराबर है। किसी भी शब्द एव शब्द-समूह का प्रयोग करने से पूर्व साहित्यकार को यह सोचना चाहिए कि प्रयुक्त शब्दपुज उसके अभीष्ट अर्थ का ठीक ठीक प्रकाशन करते हैं या नही, शब्दों पर अधिकार न रखनेवाला साहित्यकार अधूरा है और कभी कभी उसके साहित्य को लेकर तथ्यातथ्य परिवेश की भ्रान्तियो मे जन-सघर्ष उमड पडता है। अतः साहित्य में शब्दार्थ सगति पूर्व विचारणीय है।

लाल भवन, जयपुर :— दि० ६ अगस्त १९७२

विवाद का हल

: १५८ :

वहुधा ऐसे शब्दों का प्रयोग हमारे द्वारा अज्ञातरूप से हो जाता है जिनसे हम कुछ और ही अर्थ निकालना चाहते है और जन-समुदाय उन्हे दूसरे अर्थ मे ग्रहण कर लेता है। तव एक भ्रान्त वातावरण उत्पन्न हो जाता है, जिससे कभी-कभी वडे अनर्थो की सभावना होने लगती है। ऐसी स्थिति मे शब्द प्रयोक्ता को विवाद मे न जाकर उन शब्दों मे संशोधन करने की उदारता वरतनी चाहिए अथवा जन-समुदाय ही अनुत्तरदायित्व पूर्ण शब्दो की उपेक्षा कर दे। दोनो ही हल न निकलने पर अथवा वात को सम्मान का कोण निर्धारित कर लेने पर विवाद उत्तरोत्तर वढता हुआ समस्त वातावरण को विषाक्त वना देता है।

लाल भवन, जयपुर :— दि० १० अगस्त १९७२

मान्यताओं का समन्वय

: १५६ :

जितने समुदाय हैं, उतनी ही मान्यतायें है। प्रत्येक समुदाय अपनी मान्यता को आदर्श मानकर चलता है। यहा तक तो ठीक हैं। परन्तु जब दूसरे समुदाय की मान्यता पर आक्षेप कर वह अपनी मान्यता की परम्परा से भी नीचे उतरकर विवादक वन कलह का कारण वनता है। वह भूल जाता हैं कि मान्यताओ के निर्माता प्रायः सभी महापुरुष लोक-कल्याण एव आत्म-कल्याण के पावन लक्ष्य को लेकर ही चले हैं। अतः विवाद व्यर्थ है। हमे अपनी मान्यताओ के प्रति निष्ठावान रहते हुए अपर-मान्यताओ के प्रति क्षीर, नीर, विवेक-बुद्धि से चिंतन करना चाहिए।

लाल भवन, जयपुर :— दि० ११ अगस्त १९७२

धर्म और राजनीति

: १६० :

धार्मिक शास्त्रार्थ मे जय-पराजय किसी तामसिक भावना या भौतिक-उपलब्धि को प्रदान नहीं करती परन्तु राजनैतिक विवाद मे जय-पराजय दलवन्दी, पदलिप्सा एवं शासन हथियाने के रूप मे प्रगट होती है। यही धार्मिक और आधुनिक राजनैतिक जय-पराजय मे अन्तर है। कभी-कभी देख जाता है कि धार्मिक शास्त्रार्थो की जय-पराजय मे राजनैतिक जय-पराजय वाली भावना प्रवेश कर जाती है और राजनैतिक नेता भी उस अखाडे मे आ धमकते है। तव एक विचित्र स्थिति वन जाती है और निर्णय धार्मिक सिद्धान्तो पर आधारित न होकर राजनीति के हाथों मे चला जाता है, जिससे वडा भयकर परिणाम निकलता है। अतः धार्मिक तत्वानुसधान में राजनीति को उपादान या साधन नहीं वनाना चाहिए।

लाल भवन, जयपुर :— दि० १२ अगस्त १६

वीज-वृक्ष

: १३८ :

जीवन की हर प्रवृति के पीछे प्रायः यश प्राप्ति की भावना छिपी रहती है। दिशेषतया सामाजिक कार्यकलापो मे यह भावना कुछ प्रवल होती है। कई वार यह भावना इतनी सूक्ष्म होती है कि सामान्य भावेन इसका परिज्ञान नहीं होता। परन्तु ज्योही वीजरूप मे विद्यमान यह भावना अक्सर परिस्थिति तथा अन्यान्य-पोषक खादरूप को पाकर उल्लसित होती है, तब इसका आकार किसी वटवृक्ष से कम नहीं होता। उसी भाति फैल-फूलकर यह हमारी मनोभूमि को आच्छादित कर लेती है।

लाल भवन, जयपुर :— दि० १३ अगस्त १६७२

उपादान-निमित्त

: १६२ :

कार्य और कारण का अविच्छिन्न सम्बन्ध है। कार्य का सम्पादन कारण से ही होता है। कारण की उपयोगिता प्रकाशनार्थ कार्य का दृष्टिकोण सामने होना आवश्यक है। कार्य को सम्पादित करने वाले उपादान और निमित्त दो मुख्य कारण होते है। घट का उपादान कारण मिट्टी है क्योकि उसी मे घट (घडा) बनने की क्षमता है। कुम्भकार, सूत्र, चक्र, दण्ड आदि निमित्त कारण है क्योंकि वे घट निर्माण मे सहायक है। कार्य सम्पादन मे दोनों कारणो का ही अपने-अपने स्थान पर महत्व है। अस्तु किसी एक कारण को प्रधानता देना भारी भूल होगी।

लाल भवन, जयपुर :— दि० १४ अगस्त १९७२

पंच महाव्रत और देशकाल

: १६३ :

अहिंसा सत्य आदि व्रत शाश्वत सत्य स्वरूप है। उनमे देश-काल भावादि से कोई परिवर्तन नहीं होता। उदाहरण के लिए अहिंसा किसी भी स्थिति मे हिंसा के रूप मे प्रतिष्ठित नहीं हो सकेगी। वह सर्वदा सर्वत्र अहिंसा ही रहेगी। यही वात अन्य व्रतों के वारे मे समझनी चाहिए। परन्तु यहा थोड़ा विवेक अपेक्षित है। देशकाल और परिस्थिति के अनुसार जीवन के बाह्य नियमो मे यदि बिना उन महाव्रतों को ठेस पहुचाये कोई परिवर्तन करना पडे तो उस पर उसी दृष्टि से विचार करना चाहिए ताकि व्रतों के सत्य स्वरूपों का सम्यक् दर्शन होता रहे। उदाहरण के लिए स्वाध्याय एव भिक्षा कालादि के नियम लिये जा सकते हैं।

लाल भवन, जयपुर :— दि० १५ अगस्त १९७२

सच्ची स्वतन्त्रता

: १६४ :

राजनैतिक स्वतत्रता तब तक अधूरी है, जब तक सास्कृतिक परतत्रता कायम है। राजनीति की दृष्टि से देश के शासक यदि आचार, विचार, व्यवहार, वेशभूपा, भापा और धर्म इन सब दृष्टियों से दूसरे देश से बधे हुए हैं तो राजनैतिक स्वतन्त्रता भी स्थिरता प्राप्त नहीं कर सकेगी। अतः स्वतत्र देश के नागरिकों के लिए सर्वत्र अपनापन अपनाने की भावना उच्च होनी चाहिए। तभी स्वतत्रता की सार्थकता और स्वतन्त्र जीवन की सफलता है।

लाल भवन, जयपुर :— दि० १६ अगस्त १६७२

रचना और अध्ययन

: १६५ :

महापुरुषों के जीवन प्रसगो को लेकर लेखक, कवि, समालोचक कुछ न कुछ लिखते ही आये है। यह क्रम आज भी चालु है। सभी लेखक, कवि, आचोलक उन्हे अपने युग के झरोखे से देखकर उनका प्रतिपादन करते हैं, जिससे ऊपरी बातो मे—कथानकों मे भेद उपस्थित हो जाता है। उदाहरण के लिए वाल्मीकि, तुलसी, राधेश्याम, मैथिलीशरण गुप्त आदि के राम कथानको मे युग की छाप प्रत्यकित है। परन्तु मूल मे राम के चारित्र्य और चरित्र पर प्रायः सभी एकमत हैं। एक सहृदय पाठक इसी व्यापक दृष्टिकोण से विभिन्न रचनाओ को पढे। जहां दृष्टिकोण मे सकीर्णता आई कि अनेक प्रकार की भ्रान्तियां उत्पन्न होने लगेगी और ऐसी स्थिति मे रचनाकार तथा रचना के प्रति हम सही निर्णय नहीं ले सकेंगे।

लाल भवन, जयपुर :— दि० १७ अगस्त १९७२

सिद्धान्त और उनका आन्तरिक अध्ययन

: १६६ :

सिद्धान्तो का गभीर अध्ययन किये विना हम उनकी गहराई को, उपयोगिता और मौलिकता को नहीं समझ सकते। परिणामतः सिद्धान्त-भेद के भ्रम मे पडकर विवादास्पद झगडा उत्पन्न करने लगते हैं और एक ही सिद्धान्त के अनुयायी एव सम्बोधक एक दूसरे को भिन्न सिद्धान्तवादी समझने लगते है। इससे एकता को वडा धक्का पहुचता है और सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार कार्य मे भी वाधा उत्पन्न होती है। अतः सिद्धान्तों के अन्तर्रहस्य को समझना प्रत्येक तत्त्वचिंतक का पहला कर्तव्य है।

लाल भवन, जयपुर :— दि० १८ अगस्त १९७०

वासना के वीज

: १६७ :

ऊपर से शान्त ज्वालामुखी की तरह मानव-शरीर मे वासना के वीज सूक्ष्म रूप से छिपे रहते है, जो थोडा सा अभिसिंचन पाकर अकुरित होने लगते है। एकान्तवास और रूप-सौन्दर्य इन वीजो को वहुत शीघ्र पुष्टि प्रदान करते हैं। इन अभिवर्धनकारी निमित्तों के उपस्थित होते ही ज्ञान, ध्यान, धैर्य्य एव चरित्र-शक्ति विलीन होने लगती है और मनुष्य अपने आपको सर्वथा भूल जाता है। इस प्रकार के वासना-वीजो को विरला ही साधक अपनी ज्ञान चारित्र्यमयी तपाग्नि मे भस्म कर अकर्मण्य वना सकता है।

लाल भवन, जयपुर :— दि० १६ अगस्त १६७२

शुभ-अशुभ

: १६८ :

शुभ और अशुभ दोनो ही अनादि हैं। दोनों का भाव एक दूसरे के अभाव मे है। परन्तु शुभ का प्रवाह इतना तीव्र प्रतीत नहीं होता, जितना कि अशुभ का अर्थात् शुभ का विस्तार मन्द गति से होता है और अशुभ का तीव्र गति से। फिर भी जीवन मे शुभ की मान्यता है। शुभ को शिवम् कहते है, जिसे प्राप्त करना जीवन लक्ष्य स्वीकार किया गया है। तीव्र गति से बढने वाला अशुभ परित्याज्य है क्योकि यह जीवन का पतन करता है। अतः मानव को शुभ की उपासना, आराधना एव साधना करनी चाहिए।

लाल भवन, जयपुर :— दि० २० अगस्त १९७२

अनैतिक-आकर्षण

: १६९ :

अनैतिक आकर्षण व्यक्ति की प्रगति मे बाधक होता है। इस आकर्षण से व्यक्ति भले-बुरे का विचार छोडकर आकृष्य वस्तु की प्राप्ति के लिए अन्धा हो जाता है। वह अपनी जीवन-साधना, मान-प्रतिष्ठा आदि से सर्वथा अलग हो जाता है। उस आकर्षण के चक्र मे पडकर अपने अध्ययन-अनुशीलन आदि सब कुछ भुला बैठता है। अतः अनैतिक आकर्षण से सर्वथा दूर रहना ही श्रेयस्कर है।

लाल भवन, जयपुर :— दि० २१ अगस्त १९७२

सहज साधना

: १७० :

करीब दस वर्षों की साधना मे यही निर्णय भीतर से प्राप्त हुआ कि साधक जीवन मे केवल बाह्याकर्षण से उत्पन्न मनोविकारो को छोडकर अन्य कोई कठिनाई नहीं है। यदि ये मनोविकार उत्पन्न न हों तथा बाह्याकर्षण मानस को न लुभावे तो साधना सहज रूप में अबाधगति से चलती रहती है।

लाल भवन, जयपुर :— दि० २२ अगस्त १९७२

सैद्धान्तिक उदारता

: १७१ :

अपने द्वारा मान्य सिद्धान्त को प्रायः लोग कट्टरता से समर्थन देते आये है, चाहे उनका मान्य सिद्धान्त तुलना से किसी भी दूसरे सिद्धान्त से कमजोर ठहरे। उनकी यह हठ्वादिता उनके ज्ञान मे बाधक होने के साथ-साथ उस मान्य सिद्धान्त के लिए भी अन्ततोगत्वा लाभदायक नहीं ठहरती। वास्तव मे तत्त्वचिंतन के लिए सिद्धान्तों के बारे मे मनुष्य की दृष्टि उदार, व्यापक एव खुली होनी चाहिए। इसी से स्वसिद्धान्त को बल मिलता है और सघर्ष तथा विवाद भी पनपने नहीं पाता।

लाल भवन, जयपुर '— दि० २३ अगस्त १६७२

सिद्धान्त और आचरण

: १७२ :

सिद्धान्तो की सुन्दरता तव तक ग्राह्य नहीं होती, जव तक कि उनका क्रियात्मक रूप जीवन मे प्रतिफलित न हो। कहा भी हैं :—"ज्ञानं भारः क्रिया विना" आज के सैद्धान्तिक विवादों के अखाड़े मे होने वाला सघर्ष वस्तुतः चिन्तनीय है। विशेष रूप से धर्म के सिद्धान्तो के लिए तो यह सघर्ष अत्यन्त ही हानिकारक है। यदि हमारे मान्य सिद्धान्त पांच प्रतिशत व्यक्तियो के द्वारा भी मान्य नहीं है, किन्तु उनके द्वारा जीवन मे उनकी स्वीकृति नहीं है और यहां तक की हम भी उन पर क्रियात्मक गति नहीं करते हैं तो फिर उनकी उपयोगिता स्वतः सदिग्ध हो जाती है। ऐसी स्थिति मे उन पर आग्रह से अड़े रहना न तो बुद्धिमता है और न लाभदायक ही।

लाल भवन, जयपुर :— दि० २४ अगस्त १९७२

प्रसिद्धि की भूख

: १७३ :

प्रसिद्धि की भूख पेट की भूख से भी तीव्रतर होती है क्योंकि पेट की भूख से अधिक इसमे छटपटाहट देखी जाती है। इस भूख की ज्वाला को शान्त करने के लिए कभी-कभी व्यक्ति अपने आत्मीयजनो पुत्र आदि की वलि देने मे भी सकोच नहीं करता। ऐसी अनेकों घटनायें आये दिन हमारे सामने आती रहती हैं। व्यक्ति को चाहिए कि वह इस प्रसिद्धि की भूख पर त्याग, व्रत एव सयम आदि से विजय प्राप्त करे।

लाल भवन, जयपुर :— दि० २५ अगस्त १९७२

मृत्योर्मा अमृतगमय

: १७४ :

आज उपाचार्य (श्री गणेशलालजी महाराज साहब) के जीवन-संस्मरण के कुछ पृष्ठों के अवलोकन से ऐसा ज्ञान प्राप्त हुआ कि व्यक्ति अपने आप मे अमर है परन्तु अज्ञानवश वह मर्त्य बन जाता है। जो व्यक्ति स्वय को पहचान कर विश्व को अमरता का सन्देश देते हैं, वे अमर हैं। जो केवल खाने, पीने, सोने आदि शारीरिक क्रियाओं के सम्पादन में ही जीवन को सब कुछ मान बैठे हैं, वे मर्त्य हैं।

लाल भवन, जयपुर :— दि० २६ अगस्त १९७२

छद्म-दृष्टि

: १७५ :

दृष्टि बचाकर देखना दर्शन की स्नेह-वृत्ति कही जाती है। अपनी दुर्बलता के कारण आत्म-सयम के क्षेत्र मे पराजित मानव प्रायः निर्भीकता से वस्तु का दर्शन नहीं कर सकता। ऐसी स्थिति में वह अपनी कुतृष्णा को छद्म-दृष्टि से तृप्त करने का प्रयत्न करता है, जिससे चारित्रिक पतन की सभावना बनी रहती है।

लाल भवन, जयपुर :— दि० २७ अगस्त १९७२

पूर्वोतर स्थिति

: १७६ :

असन्तुलित मानस वाले व्यक्ति जब कभी साधारण स्थिति से ऊँचे उठ जाते हैं तो अपनी पूर्व स्थिति को भूल कर प्रमादवश अन्यों से नीरस एव कठोर अमानवीय व्यवहार करने लगते हैं। सहानुभूति प्रेम, दया, सौजन्यता आदि दैविक गुण प्रायः प्रणष्ट हो जाते है। धीरे-धीरे व्यक्ति क्रूरता की प्रतिमूर्ति वन वैठता है, जिससे एक दिन भयकर स्थिति का सामना करता हुआ स्थान भ्रष्ट हो जाता है। अतः उच्च स्थिति पर पहुच कर भी व्यक्ति को अपना पूर्वावस्था को नहीं भूलना चाहिए।

लाल भवन, जयपुर — दि० २८ अगस्त १९७२

युवक और उपदेश

: १७७ :

युवको में अधिकांशतः जोश अधिक होता है और होश कम। उनके गलत जोश को शान्त किये बिना होश ठिकाने ले आना कठिन है। अतः सदुपदेशक पहले अपनी गंभीर वाणी एव उपदेश से उनके जोश को शान्त करता है। होश ठिकाने आते ही उन्हे अपनी भूलों का पता चल जाता है और वे हितकारी वचन एव उपदेशों को स्वीकार करने के लिए तैयार हो जाते हैं। इसके लिए उपदेशक मे सरलता, स्वाभाविकता, निर्मलता एव ज्ञान-गहनता आदि विशेषताओं का होना परमावश्यक है।

लाल भवन, जयपुर : – दि० २६ अगस्त १६७२

प्रतिष्ठा-व्यक्ति और समाज

: १७८ :

समाज मे रहने वाले व्यक्ति के लिए सामाजिक प्रतिष्ठा का भी एक महत्त्व है परन्तु सामाजिक प्रतिष्ठा नोति मार्ग से भ्रष्ट होकर प्राप्त करना अपना चारित्र्यिक पतन करना है। समाज मे मुखिया को पद-प्रतिष्ठा पाने के लिए छल से जोड तोड बठाना समाज के लिए भी घातक ठहरता है। जिस समाज मे एसे प्रतिष्ठाप्राप्त व्यक्ति वढ जाते हैं, वह सारा समाज ही पतित हो जाता है। अतः प्रतिष्ठा, नैतिकना और सदाचरण से ही प्राप्त की जानी चाहिए ताकि स्वस्थ व्यक्तियो से स्वस्थ समाज की रचना हो सके

लाल भवन, जयपुर :—दि० ३० अगस्त १९७२

प्रतिष्ठा एक मृग-तृष्णा

१७६ :

प्रतिष्ठा को मृग तृष्णा के पीछे जिसका मन-कुरग दौड़ता रहता है, वह अपने जीवन की आन्तरिक वास्तविक स्थिति पर कभी चिंतन नहीं करता। 'येन केन प्रकारेण प्रतिष्ठा पालूं' यही एक गूंज उसके मस्तिष्क मे भरी रहती है। परिणामतः दृष्टि वाह्यमुखी होकर शून्य मे भटकती रहती है और अभ्यान्तर को विकृत करने वाले विचारों की ओर ध्यान ही नहीं जाता। वास्तव मे प्रतिष्ठा की यह दुराकांक्षा मानव के पतन का कारण है।

लाल भवन, जयपुर :—दि० ३१ अगस्त १९७२

विवेकांकुश

: १८० :

कभी-कभी मानव भावावेश मे आकर देशकाल, परिस्थिति एव आत्म-सामर्थ्य को सर्वथा भूल जाता है और ऐसी त्रुटि कर जाता है, जिसके कुपरिणाम को देखकर वडा ही पश्चात्ताप करना पडता है। अतः भावुकता पर विवेक-अकुश रहना अत्यावश्यक है।

लाल भवन, जयपुर :— दि० १ सितम्वर १९७२

अनुभवो की मार्मिकता

: १८१ :

अनुभवशील व्यक्ति की अनुभूतियाँ वडी ही मार्मिक होती है। जिस व्यक्ति ने अपने जीवन मे अनेक उतार चढाव देखे हो, उसके अनुभव जव कभी सुनने को मिलते है तो श्रोता को भी विशेष प्रकार का ज्ञान प्राप्त होता है। इसमे भी भुक्त-भोगी के अनुभव विशेप हृदय स्पर्शी होते है। अनुभवो की ग्राह्यता अग्राह्यता सतत विचारणीय है।

लाल भवन, जयपुर :— दि० २ सितम्वर १९७२

गलतियों का लवणाकर

: १८२ :

गलतियों के लवणाकर मे अनेक अनुभव के रत्न भी छिपे रहते हैं। व्यक्ति को चाहिए कि वह उन रत्नों को एकत्रित करे और अपने जीवन मे उनका उपयोग कर सदानद को प्राप्त करे। वास्तव मे चिंतन करने प र ये त्रुटियां पथ-प्रदर्शक-शिक्षक का काम करती है।

लाल भवन, जयपुर :– दि० ३ सितम्वर १९७२

अनुभवों की निधि

: १८३ :

अनुभव, व्यक्ति की अपनी निधि है। इस निधि का उपयोग कहां किया जाय, यह उसकी वुद्धि विवेक पर निर्भर है। बहुधा आवश्यकता-रहित स्थान पर तथा रुचि न लेनेवाले व्यक्तियो के सामने अनुभव रत्न खोल देने पर उनका कुछ भी मूल्यांकन नहीं होता।

लाल भवन, जयपुर :— दि० ४ सितम्वर १९७२

स्वार्थ-परार्थ

: १८४ :

स्वार्थ का सम्पादान सामान्यतया व्यक्ति-क्रिया का एक अग है। परन्तु स्वार्थ सम्पादान मे पर क्षति न हो, इस ओर सदैव ध्यान रखना चाहिए। इससे भी आगे बढकर यदि स्वार्थ का उपयोग परार्थ मे होने लगे अर्थात् स्वार्थ परार्थ बन जाये तो जीवन की एक महती उपलब्धि होगी, जो हमे सज्जनता के पद पर प्रतिष्ठित कर देगी।

लाल भवन, जयपुर :— दि० ५ सितम्बर १९७२

साधक और अभ्यासी साधक

: १८५ :

साधना के परिपक्व होने पर साधक कोलाहल के बीच मे स्थित रहकर भी साधना-पथ से विचलित नहीं होता। परन्तु जब तक साधना अभ्यास-दशा मे चल रही हो, तब तक साधक का कोला-हल एव अधिक जनसम्पर्क मे रहना साधना मे बाधक ही होगा। यह बात ध्यान देने योग्य है।

लाल भवन, जयपुर :— दि० ६ सितम्बर १९७२

साधना की परिपुष्टि

: १८६ :

साधक के लिए सहिष्णुता की अत्यावश्यकता है। असहिष्णु व्यक्ति साधक होने का अधिकारी नहीं अर्थात् व्यक्ति सहनशील बने और फिर साधना आरभ करे तो उसे सफलता मिलेगी। कोई कुछ भी कह दे, कुछ भी सकट सामने उपस्थित हो जाय, यदि सहनशीलता बनी रहती है तो साधना स्वयमेव परिपुष्ट होती जाती है।

लाल भवन, जयपुर :— दि० ७ सितम्बर १६७२

साधना से पतन का कारण

: १८७ :

अधिकांशतः साधना की गिरावट वेद मोहनीय कर्म के प्रवल उदय से होती हैं। मोहनीय कर्म की जजीर मे वधा प्राणी कठिनाई से छूटता है। वह आत्म-विस्मृत हो जाता है। इस जजीर से छूटने के लिए सर्वप्रथम मोहोत्पादक वृत्तियो पर विजय पाना आवश्यक है। इस विजय हेतु मोहवर्द्धक इन्द्रियो पर सयम पाना चाहिए। यही साधना पथ पर वढने का श्रेष्ठ तरीका है।

लाल भवन, जयपुर :— दि० ८ सितम्बर १९७२

रस निग्रह

• १८८ :

साधक के लिए जिह्वा पर विजय पाना नितान्तावश्यक है। रस-लोलुप व्यक्ति का मन चचल रहता है और रसना द्वारा गृहीत रसो का प्रभाव उसकी चचलता को सतत अभिवर्धित करता रहता है। अतः साधक प्रथम स्वाद-विजय करें। वह रूखा सूखा, रस नीरस सभी प्रकार के साधनोपयोगी खाद्य को केवल शरीर धारण के दृष्टिकोण से ग्रहण करें।

लाल भवन, जयपुर :— दि० ९ सितम्बर १९७२

रसना विजय

: १८९ :

सभी इन्द्रियो को रसना से ही पोषण मिलता है। अतः सभी का सम्बन्ध या सभी का केन्द्र-विन्दु यह रसना ही है। कहा भी है :— "जैसा खावे अन्न, वैसा रहे मन" अन्न से ही मन की वृतियों का इन्द्रिय-माध्यम से पोषण होता है। इसलिए सम्पूर्ण इन्द्रिय-विजय के लिए व्यक्ति को पहले रसना विजय करनो चाहिए।

लाल भवन, जयपुर :— दि० १० सितम्बर १९७२

अधिक भाषण

: १६० :

अधिक भाषण की आदत व्यक्तित्व को गरिमा-रहित कर देती है। अधिक बोलने वाले के प्रति लोगों की यह धारणा सी बन जाती है कि इसको तो राई का पर्वत बनाकर बोलने की आदत पडी हुई है। उसकी बात सुनने से भी लोग कतराते है। इस अत्यधिक भाषण-वृत्ति से दूसरी हानि यह होती है कि वह पग पग पर अपनी भाषा मे पकडा जाता है, जिससे कभी कभी बिना मतलब लज्जित भी होना पडता है। अतः अल्प भाषण ही सभी दृष्टियो से श्रेयस्कर है।

लाल भवन, जयपुर :— दि० ११ सितम्बर १६७२

संवत्सरी पर्व

: १६१ :

आज सवत्सरी पर्व का पावन प्रसग है। ऐसे पर्वों का वास्तविक मूल्याकन हमे आज के दिन करना चाहिए। हम पर्व के वास्तविक रूप को समझकर तदनुसार जीवन के आध्यात्मिक पक्ष के निर्माण मे आगे बढें। उस दिन वैरत्याग, विश्व-वात्सल्य और धार्मिक दृढता के सकल्प को मन मे बैठायें, अन्यथा इस पर्व का सही महत्त्व जीवन मे प्रतिष्ठित नहीं कर सकेंगे। पर्व को मनाने की पारम्परिक-पद्धति मे ही उलझे रहेगे। हम इस पर्व पर वैर भाव का त्याग करें तभी इस पर्व की सार्थकता है, अन्यथा इसे रूढिगत परम्परा का पोषण ही कहेगे।

लाल भवन, जयपुर :— दि० १२ सितम्बर १९७२

क्षमापना-दिवस

: १९२ :

अधिकांशतः यह देखा जाता है कि पर्यूषण या क्षमापना पर्व एक रूढि के रूप मे ही मनाये जाने लगे हैं। हमारा अन्तःकरण आज क्षमा के आदर्श तक बहुत कम पहुच पा रहा है। यदि क्षमा की आदर्श वृत्ति जीवन में उतर जाय तो जीवन सर्वतोभावेन अपने लिए और दूसरों के लिए कल्याणकारी हो जाता है।

लाल भवन, जयपुर :— दि० १३ सितम्बर १९७२

आचरणहीन उपदेश

: १६३ :

आचरणहीन उपदेश, समाज, धर्म, राजनीति अथवा किसी भी क्षेत्र में उत्पन्न हों, उनसे कुछ भी भला होने वाला नहीं है। आचरण शून्य उपदेश वाक्‌मात्र होने से प्रभावकारी नहीं हो सकता। अतः उपदेशक को सर्वप्रथम अपने उपदेशानुसार स्वय को ढालना चाहिए। स्वय के उपदेशो मे ढले हुए व्यक्ति की अन्तरात्मा का स्वर कुछ और ही होता है। वह दूसरो पर जादू का सा असर करता है। इसीलिए कहा है "पहले तोलो, फिर बोलो।"

लाल भवन, जयपुर :— दि० १४ सितम्बर १९७२

चर्चा की उपादेयता

: १६४ :

जब तक हम भीतर-बाहर की चर्चा अपनी आदत से प्रेरित होकर अथवा मन-बहलाव के लिए करते है, तबतक उसका जीवन में कुछ भी महत्त्व नहीं है। वह केवल समय का अपव्यय मात्र है। चर्चा का सम्बन्ध अन्तर से होना चाहिए। चर्चित विषय के प्रति जिज्ञासा एव समाधान की भावना होना आवश्यक है। तभी विषय की उपादेयता स्व-पर के लिए सिद्ध होगी।

लाल भवन, जयपुर :— दि० १५ सितम्बर १९७२

अपनी कृति अपनी दृष्टि में

: १९५ :

कुछ लेखक अपनी साधारण कृति को भी अपनी ही आंखों से मूल्याकन करते हुए, एक श्रेष्ठ कृति मान बैठते है और यदा-कदा उसे जन समूह के समक्ष प्रस्तुत कर आशा करते है कि लोग उस कृति की खूब तारीफ करें। यदि इस आशा की पूर्ति नहीं होती है तो चित्त मे बडा दुःख होता है। यह खिन्नता उत्पन्न करने वाली वात जीवन का भी पतन करने वाली है। व्यक्ति अपनी स्थिति, योग्यता और प्रतिभा को भूलकर अहमन्यता से अपने को कुछ का कुछ समझ वेठता है। परिणामत. उसकी प्रगति के पथ का अवरोध हो जाता है।

लाल भवन, जयपुर — दि० १६ सितम्बर १९७२

कीर्ति-कामना

: १९९ :

कीर्ति का उमड़ने वाला प्रवाह कभी-कभी बाढ की भांति विनाशकारी सिद्ध होता है। वह सयम, त्याग, वैराग्य, आदि जीवन तट के वृक्षों को उखाड़ देता है। कभी-कभी यह प्रवाह मर्यादा के तटों को भी भग कर डालता है और व्यक्ति को अकरणीय कार्य की गन्दी धारा मे बहा ले जाता है। अतः उन्नति एव विकास चाहने वाले आध्यात्मिक क्षेत्र के प्राणी को इससे अपने को बचाने का पूर्वाभ्यास अपेक्षित है।

लाल भवन, जयपुर :— दि० १७ सितम्बर १९७२

मनोवृत्ति-नियंत्रण

: १९७ :

मानसिक चचल वृति को निरन्तर अभ्यास एव सद्भावना से रोका जा सकता है। यद्यपि यह कार्य आरम्भ मे कठिन प्रतीत होता है परन्तु धीरे-धीरे जव मानसिक वृति स्थिर हो जाती है, तव वह स्वाभाविक रूप धारण कर लेता है। अतः थोड़े से अभ्यास से सफलता न मिलने पर निराश नहीं होना चाहिए।

लाल भवन जयपुर : - दि० १८ सितम्बर १९७२

मनोनियंत्रण और वाह्य वातावरण

: १९८ :

मानसिक चपल वृतियों के शमन मे आभ्यन्तरिक साधनामय अभ्यास के साथ इन्द्रिय-ग्राह्य वाहरी वातावरण को भी स्वच्छ रखना आवश्यक है क्योकि वाह्य वातावरण हमारी भली-वुरी भावनाओं के उद्भव एव उत्तेजन मे वहुत वडा हाथ रखता है। अतः जहाँ वातावरण स्वच्छ हो अथवा स्वच्छ वनाया जा सके, वहीं आध्यात्मिक विचार का रहना ठीक है।

लाल भवन, जयपुर :— दि० १९ सितम्बर १९७२

आशा-निराशा

: १९९ :

कामनापूर्वक किया गया कार्य व्यक्ति को आशा और निराशा के पलने मे झुलाता रहता है। यदि कार्य के माध्यम से कामना-पूर्ण हो जाती है तो मन प्रफुल्लित हो जाता है और यदि उस कार्य की सफलता पर भी वह पूर्ण नहीं होती है तो मन निराशा से भर जाता है, जिससे उस अच्छे कार्य के प्रति भी अनास्था तथा ग्लानि होने लगती है। अतः कामनाओं का परित्याग करके समभावेन स्वकर्त्तव्य को पहचानकर कार्य करने वाला व्यक्ति सदैव आनन्दित रहता है। कर्त्तव्यशील व्यक्ति को इसी चिंतन के सहारे आगे बढना चाहिए।

लाल भवन, जयपुर :— दि० २० सितम्बर १९७२

यश-लोलुपता

: २०० :

कीर्ति कामना से अन्धा बना हुआ व्यक्ति हिताहित का निर्णय करने मे असमर्थ रहता है। यहां तक कि वह अपने पूज्य पुरुषों से भी वाह-वाही लूटने का स्वप्न देखने लगता है और उनके आदेशों का मूल्यांकन कीर्ति की आंखों से करता है। वह "आज्ञा गुरुणां ह्यविचारणीया" के पावन सन्देश को भूल जाता है।

लाल भवन, जयपुर :— दि० २१ सितम्बर १९७२

उत्तरदायित्व का ज्ञान

: २०१ :

उत्तरदायित्व को समझनेवाला व्यक्ति अनेक प्रकार की कठिनाइयां सहन कर भी अपने उत्तरदायित्व को पूरा करने मे प्रयत्न करता है। उत्तरदायित्व का ज्ञान होना सर्वप्रथम आवश्यक है क्योकि उत्तरदायित्व के सम्यक् ज्ञान के अभाव मे उसका वहन भी भलीभाति नहीं हो सकता।

लाल भवन, जयपुर :— दि० २२ सितम्बर १९७२

कार्य और विघ्न

: २०२ :

विघ्नो की बाहुलता मे कभी कभी साधक अपने पथ से विचलित होने का विचार कर बैठता है और अपने प्रारम्भिक पुरुषार्थ को छोड देता है। यह दुर्बलता उसे किसी भी कार्य मे सफल नहीं होने देती। क्योंकि प्रायः कोई भी कार्य सर्वथा निर्विघ्न सम्पादन होने योग्य नहीं है। अतः कार्य-साधक व्यक्ति का उत्साही एव धैर्यवान तथा कार्य के प्रति निष्ठावान् होना आवश्यक है।

लाल भवन, जयपुर :— दि० २३ सितम्बर १९७२

स्वार्थ परायणता

: २०३ :

व्यक्ति जब स्वार्थ-भावना से किसी कार्य मे सलग्न होता है तो समाज मे उसकी महत्ता एवं प्रतिष्ठा गिरने लगती है, फर चाहे वह कार्य कितना ही उत्तम क्यों न हो। कभी कभी तो इस घोर स्वार्थ-वृति से कार्य बिगड़ भी जाता है जिससे 'इतो भ्रष्ट स्तनो भ्रष्टः' होकर पश्चात्ताप एव आत्मग्लानि से पीड़ित होना पड़ता है। अतः कार्य मे परहित का विशेष ध्यान रखना चाहिए।

लाल भवन, जयपुर :— दि० २४ सितम्बर १९७२

बिना काम के नाम

: २०४ :

कार्य न करके नाम कमाने की धुन आदमी को चालाक और अवसरवादी बना देती है। ऐसा आदमी बिना काम के नाम की भूख लिये भटकता रहता है। जब तक कार्य का महत्त्व अंकित नहीं होता, तब तक तो यह सब चल जाता है परन्तु जब कार्य की रूप-रेखा मे सयोजित होने का समय आता है, तब वह वहां से पलायन कर जाता है। उसके मिथ्या कार्यकर्त्तारूप की झाकी सामने आ जाती है, और उसे शर्मिन्दा होना पड़ता है। यह नाम की भूख खुद के लिए तथा समाज व धर्म के लिए भी हानिकारक है।

लाल भवन, जयपुर :— दि० २५ सितम्बर १९७२

क्रिया सिद्धि का मूल

: २०५ :

सकल्प-सिद्धि ही क्रिया सिद्धि है। सकल्प की दृढता व्यक्ति को बाधाओं से लडने तथा कार्य को सफल बनाने की ओर लगाये रखती है। अतः व्यक्ति का सकल्प दृढ होना चाहिए। दृढ सकल्प से विपत्तियां भी कार्य सहयोगिनी बन जाती हैं।

लाल भवन, जयपुर :— दि० २६ सितम्बर १६७२

वैचारिक समानता

: २०६ :

दो समान विचार वाले व्यक्तियों का ही प्रायः प्रेम या मेल होता है। विपरीत विचार-धारा मे मेल होना असम्भव है। इस पर भी एक बात विचारणीय है। यदि समान विचार धारा वाले लोग भी आपस मे उदार न होगे तो सामजस्य स्थापित न हो सकेगा। अतः एक दूसरे के प्रति सहनशील और उदार होना उस स्थिति मे भी आवश्यक है।

लाल भवन, जयपुर :— दि० २७ सितम्बर १६७२

दार्शनिक और व्यवहार-कुशलता

: २०७ :

व्यवहार कुशलता का गुण एक दार्शनिक के लिए भी आवश्यक है। क्योंकि दार्शनिक चाहे चिन्तन की दुनियां मे उडता रहे परन्तु उसके पैर समाज की यथार्थ भूमि पर ही है अर्थात् अपने समाज से पृथक् नहीं हो सकता। समाज मे अपना स्थान वनाने के लिए उसे विभिन्न व्यवसाय के व्यक्तियो के सम्पर्क मे आना पडेगा। और सम्पर्क को सफल वनाने के लिए व्यवहार-कुशल वनना पडेगा। अन्यथा उसका दार्शनिक चिन्तन समाज से दूर पड जायेगा।

लाल भवन, जयपुर '— दि० २८ सितम्बर १९७२

मन की स्थिति

: २०८ :

कभी-कभी मानस की विचित्र स्थिति को देखकर बडी हँसी आती है। एक क्षण पहले जिस व्यक्ति को अपना समझकर उसका गुणगान करते नहीं अघाते थे तथा उसकी निन्दा सुनकर विक्षुब्ध हो उठते थे, दूसरे ही क्षण उसी के प्रति भाव-परिवर्तन होने पर लोग स्वय उसके निन्दक एव अनिष्ट चिन्तक हो आते हैं। परन्तु चिन्तनीय है कि मानस की यह चपल स्थिति विवेकपूर्ण श्रद्धा के अभाव मे ही होती है।

लाल भवन, जयपुर :— दि० २९ सितम्बर १९७२

संशय का समाधान

: २०६ :

जब तक संशय का समाधान नहीं होता तब तक वह बढ़ता ही चला जाता है। संशय किये गये व्यक्ति की सामान्य क्रियाओ मे भी हमे प्रायः विकारों का दर्शन होता रहता है, जिससे बिना मतलब मन के ताने-बाने बुनते रहते है। ऐसी स्थिति मे नींद, सुख, विश्राम सब नष्ट हो जाते हैं और केवल एक ही चिंतन की धारा हृदय के किनारों से टकराती रहती है। अतः अपने आपको पुनः पूर्ण स्वस्थ रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए संशय का समाधान आवश्यक है।

लाल भवन, जयपुर :— दि० ३० सितम्बर १९७२

संशयात्मा विनश्यति

: २१० :

चिन्तन करने पर 'सशयात्मा विनश्यति' की उक्ति वहुत गहरी प्रतीत होती है। सशयग्रस्त व्यक्ति निर्मल चरित्र व्यक्ति को तथा अपने समधिक प्रिय व्यक्ति को भी विकृत दृष्टि से देखने लगता है और इसी सशय-चक्र मे ग्रस्त होकर अपना तथा सशय किये गये व्यक्ति का वहुत वुरा कर सकता है।

लाल भवन, जयपुर :—दि० १ अक्टूवर १९७२

नियंत्रण

: २११ :

जव तक मन की भली-वुरी वातों को पहचानने की योग्यता परिपक्व स्थिति मे नहीं आ जाती, तव तक मनुष्य के जीवन पर अनुभवी वृद्ध पुरुषो तथा माता-पिता का नियत्रण आवश्यक हैं। इस अकुश के विना जीवन अस्थिर, उच्छृखल तथा भ्रष्ट हो जाता है। वालको के विगड़ते हुए जीवन को देखकर इस दिशा मे गभीरतापूर्वक सोचा जाना आवश्यक है।

लाल भवन, जयपुर :— दि० २ अक्टूवर १९७२

लोकैषणा

: २१२ :

लोकैषणा के भवर-जाल मे फसा हुआ व्यक्ति लोकानुरजिनी वृतियो को अपनाता जाता हैं। लौकिक ख्याति, सम्मान, प्रतिष्ठा आदि की प्राप्ति के तरीके उसके 'भीतर' को उलझाये रखते हैं। फलतः आत्म-चिंतन, आत्म-साधना का क्षेत्र उपेक्षित होकर उजड जाता है। अतः साधक को विशेष रूप से इस ओर जागरूक होना चाहिए। कि वह इस प्रलोभिनी लोकैषणा मे न फंसे।

लाल भवन, जयपुर :— दि० १ अक्टूबर १९७२

नई पीढ़ी — एक चिंतन

: २१३ :

टी० वी० के कीटाणुओं की भांति आये दिन निकलने वाले फैशन के तरीके और विलासिता के साधन हमारी नई पीढो को जर्जर वनाते जा रहे हैं। यह सक्रामक रोग अनुकरण के रूप मे फैलता हुआ हमे इस दिशा मे सोचने के लिए मजबूर कर रहा है कि सदाचार, सुशीलता, शिष्टता, विनय एव भारतीय वेश-विन्यास के प्रति उत्पन्न अनास्था हमारी उस नई पीढी को कहा तक ले जाकर भटका देगी ? यह गहन चिन्ता का विषय है। हमे शीघ्र ही इस ओर ध्यान देना चाहिए।

लाल भवन, जयपुर :— दि० ४ अक्टूबर १९७२

प्रशंसा

: २१४ :

किसी के लोकोपकारी जीवन एव कार्य की प्रशंसा जन-समाज करे, यह उसका कर्तव्य भी है क्योंकि भले व्यक्ति के जीवन और कार्य को प्रशसा तथा आदर देने से प्रोत्साहन मिलता है और व्यक्ति-आदर्श की प्रतिष्ठा होती है। परन्तु दुर्वल मानस वाले व्यक्तियो के लिए प्रशसा एक मीठा जहर है। प्रशसा के भूखे ऐसे व्यक्ति अपने आपको नहीं पहचान पाते और प्रशंसको द्वारा दिये गये विशेषणों मे खो जाते हैं। प्रशसक किस भावना को लेकर प्रशसा कर रहा है, इसकी पहचान उन्हे नहीं होती। परिणामतः वे एक मिथ्या एव काल्पनिक जगत् मे विचरण करते हुए कई बार धोखा खा जाते हैं।

लाल भवन, जयपुर :— दि० ५ अक्टूबर १९७२

दैनिक-क्रम

: २१५ :

जीवन-का कार्य-कलाप सुव्यवस्थित रहे, इसी मे आनन्द है और इसी मे कार्य-सफलता भी। सामान्य परिस्थितियों से प्रभावित होकर तथा मन की स्थिरता के कारण निर्धारित व्यवस्था एव दैनिक क्रम मे हेर-फेर करना मानसिक दुर्बलता है। यह दुर्वलता हमे सब तरह से उजाड कर हमारी साधना को नप्ट कर देती है। अतः दैनिक क्रम मे परिवर्तन वहुत अधिक विवश स्थिति मे ही हो, सामान्य-स्थिति में नहीं।

लाल भवन, जयपुर :— दि० ६ अक्टुवर १९७२

साम्प्रदायिकता

: २१६ :

साम्प्रदायिकता व्यक्ति के उदार भावों को नष्टकर देती है या पनपने ही नहीं देती। प्रायः देखा जाता है कि साम्प्रदायिक विचारो मे वधा हुआ व्यक्ति अपने सम्प्रदाय की सामान्य तथा अनुपयोगी वातों को भी इतना अधिक महत्त्व देता है कि दूसरे सम्प्रदाय की असामान्य एव अत्यन्त उपयोगी वात को देखना तथा सुनना तक वह पसन्द नही करता। इससे ज्ञान एव जानकारी के सव रास्ते वन्द हो जाते हैं और मनुष्य कूप-मण्डूक वन जाता है। अतः साम्प्रदायिकता इस रूप मे हानिकारक ही सिद्ध होती है।

लाल भवन, जयपुर :— दि० ७ अक्टूबर १९७२

प्रेम और श्रद्धा

: २९७ :

किसी गुण-धर्म विशेप को लेकर उपजा हुआ प्रेम तथा श्रद्धा स्थायी होते है परन्तु व्यक्ति विशेप पर अज्ञानपूर्वक उत्पन्न प्रेम और श्रद्धा अन्वे हैं और वे जीवन में स्थायी स्थान नहीं रखते।

लाल भवन, जयपुर :— दि० ८ अक्टूबर १९७२

चादर-दिवस पर

: २१८ :

आज का दिवस स्मृति कोष का एक महवत्पूर्ण दिवस है। आज से दस वर्ष पूर्व इसी दिन पूज्य आचायदेव को उदयपुर के राज-प्रागण मे चादर-महोत्सव के रूप मे आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया गया था। सारा दृश्य आंखों के सामने उभर रहा है। साथ ही मन चिन्तन करता है कि दस वर्षों के इस काल मे पूज्य आचार्य श्री जी कहां से कहा पहुच गये हैं। आज अपनी पावन साधना एव गम्भीर ज्ञान गरिमा के यश परिमल से आपने दिग्-दिगन्त को सुरभित कर दिया है। हृदय आनन्द और श्रद्धा से आपूरित होकर आपके चरणो का भावाभिनन्दन कर रहा हूँ। ●

लाल भवन, जयपुर :— दि० ९ अक्टूबर १९७२

● नोट :—पूज्य श्री नानालालजी महाराज साहब को स्वर्गीय आचार्य श्री गणेशीलालजी महाराज साहब ने आश्विन शुक्ला २ को विधिवत् उत्तराधिकारी घोषित किया था।

समत्व-दृष्टि

: २१९ :

जिसके प्रति विशेष लगाव या अपनत्व होता है, उसके उत्कर्ष पर हमे प्रसन्नता अनुभव होती है और अपकर्ष पर दु.ख। यह भी एक दृष्टि विभाव की कोटि मे निर्धारित किया जाता है, क्योकि स्वाभाविक स्थिति मे परत्वापरत्व का भेद नहीं रहता, दृष्टि समत्व को प्राप्त रहती हैं। साधक के लिए यह समत्व दृष्टि ही अभ्युत्थानकारी है।

लाल भवन, जयपुर :— दि० १० अक्टूबर १९७२

भाव-प्रसार

: २२० :

हृदय की भाषा को हृदय तत्काल पढ लेना है। किसी के प्रति हमारे मन मे यदि प्रेम अथवा वैर भाव की जागृति हो जाती है तो उस व्यक्ति का हृदय निसर्गतः हमारे प्रति सद्भावना या दुर्भावनाभिभूत होने लगता है। यह सत्य है कि मानव के मन के भाव वातावरण मे प्रतिबिम्बित होकर निखिल मानव-समाज को भलाई-बुराई मे भरते रहते हैं। अतः विचारो की शुद्धि आवश्यक है।

लाल भवन, जयपुर :— दि० ११ अक्टूबर १९७२

'मूड' अर्थात् मनःस्थिति

: २२१ :

अग्रेजी मे जिसे Mood कहते हैं वह मनःस्थिति का ही नाम है। मूड बदलना, मूड वनना, मूड बिगडना आदि शब्द मनःस्थिति के वदलने, अनुकूल-प्रतिकूल वनने तथा असन्तुलित होने के पर्याय-वाची है। आत्म-दृढता के अभाव मे मन बाहरी वातावरण से प्रभावित होकर नाना रूपो में परिवर्तित होता रहता है और सुख दुःखमयी स्थितियों मे गुजरता रहता है परन्तु सुलझे हुए आत्म-विजयी मानव का Mood अर्थात् मनःस्थिति सर्वदा समत्वमयी होती है। वह बाहरी वातावरण से प्रभावित नहीं होती। इसी का नाम विवेक है।

लाल भवन, जयपुर :— दि० १० अक्टूबर १९७२

ज्ञान और अभिमान

: २२२ :

"अल्प ज्ञानी महा गर्वी" की उक्ति की सार्थकता प्रायः देखने को मिल जाती है। देखने मे आता है जिन्हे किसी विषय का थोडा सा भी ज्ञान उपलब्ध हो गया है अक्सर वे अपने को सम्पूर्ण ज्ञानी समझ कर अह से परिपूरित हो जाते हैं। वे समझते हैं कि उन्हे अब कुछ भी सीखना शेष नहीं रहा है। ऐसे व्यक्ति अल्प-ज्ञान गर्व से कितनों का ही निरादर करते हैं, कितनी ही निश्चल ज्ञानी आत्माओं की खिल्ली उडाते रहते हैं। यह आचरण उनके स्वय के विकास मे एक सुदृढ अवरोध बनकर उपस्थित हो जाता है। अतः ज्ञान की अनन्तता स्वीकार कर निरभिमानी होकर व्यक्ति को सदैव ज्ञान-ग्राहक बने रहना चाहिए।

लाल भवन, जयपुर :— दि० १४ अक्टूबर १९७२

उत्तरदायित्व से पूर्व

: २२३ :

उत्तरदायित्व सभालकर उसे न निभाना व्यक्ति अथवा समाज के प्रति जहां वहुत वडा विश्वासघात है, वहां अपने लिए भी पतन का, वदनामी का तथा लज्जा का कारण है। किसी के दबाव में आकर अथवा प्रभाव जमाने की भावना से कुछ व्यक्ति पहले उत्तरदायित्त्व ग्रहण कर लेते है और फिर कार्य की गहनता, जटिलता आदि का ध्यान कर खिसकने का प्रयत्न करते हैं। यह परवञ्चकता आत्मवञ्चकता भी है। अतः उत्तरदायित्त्व ग्रहण करने से पूर्व कार्य पर पूरा विचार कर लेना चाहिए।

लाल भवन, जयपुर :— दि० १४ अक्टूबर १९७२

योग्यता और कार्य

: २२४ :

जितनी योग्यता हो उसी के अनुसार कार्य हाथ में लेना चाहिए। योग्यता से ऊपर का कार्य हाथ मे लेने से सफलता नहीं मिलेगी और वदनामी भी खूव होगी। उदाहरण के लिये पांचवी कक्षा तक पढाने की योग्यतावाला अध्यापक यदि ऊपर की कक्षा मे हाथ डालेगा तो लड़कों के सामने अपनी इज्जत देगा और वद-नामी भी मोल लेगा। अस्तु शक्ति-अनुरूप कार्य ही फलदायक एव कीर्तिकारक होता है।

लाल भवन, जयपुर :— दि० १५ अक्टूवर १९७२

विकार-तरु

: २२५ :

विकारों पर तवतक विजय प्राप्त नहीं की जा सकती, जबतक कि उनके मूल (उद्भव) स्रोत का पता नहीं चलता। शाखा-छेदन से वृक्ष का विनाश नहीं होता। छिन्न शाखा पुनः उचित खाद्य पाकर अपने पूर्व स्थान मे उल्लसित हो जाती है। यही वात विकारों के बारे में है। केवल विकार-विनाश से विकार-तरु का हनन नहीं होता। उसके मूल का उत्पादन सदा के लिए उसका विनाश कर देना है।

लाल भवन, जयपुर :— दि० १६ अक्टूबर १९७२

साधक और परिचय विस्तार

: २२६ :

साधक के लिए विशेष परिचय-विस्तार एक प्रकार की बाधा है। साधना-मार्ग पर चरण रखने वाले के लिए तो परिचय-विस्तार महान रुकावट का कार्य करता है। वह साधक को भी लोक-व्यवहार कुशल होने के लिए बाध्य करता है। अतः साधना-सिद्धि वांछक व्यक्ति को कम से कम लोगो के साथ परिचय करना चाहिए।

लाल भवन, जयपुर :— दि० १७ अक्टूबर १६७२

व्यक्ति-पठन

: २२७ :

पुस्तको का पढना आसान है परन्तु व्यक्ति को पढना बहुत ही कठिन है। विज्ञ-मेधावी पुरुष तो यहा तक कहते है कि अनुभव की पाठशाला मे जिसने व्यक्ति को पढना सीख लिया, उसने सब कुछ सीख लिया। उसके लिए कुछ भी पढना शेष नहीं रहा। व्यक्ति पठन मे धैर्य, गांभीर्य, सहानुभूति, तटस्थता, उदारता एव सहनशीलता आदि का सहारा लेना आवश्यक है अन्यथा पाठ गलत भी हो सकता है और हमें उसका कुपरिणाम भी भोगना पड सकता है।

लाल भवन, जयपुर : — दि० १८ अक्टूबर १६७२

सत्क्रिया और प्रदर्शन

: २२८ :

किसी भी सत्क्रिया की सफलता एव उपादेयता उसके लिए निर्धारित दृष्टिकोण पर अवलम्बित है। अच्छी से अच्छी क्रियायें भी पावन दृष्टिकोण का आश्रय न पाकर आत्म-पतन का कारण बन जाती है। उदाहरण के लिए यौगिक-क्रियाओ को ही लीजिए। यदि ये क्रियायें स्वय की शुद्धि एव ज्ञान के दृष्टिकोण से एकान्त और शान्त स्थान में की जायेंगी तो स्वय को समझने तथा ऊँचा उठाने मे योग देंगी। इसके विपरीत ससार पर प्रभाव जमाने की भावना से यदि प्रदर्शन-रूप में की जायेंगी तो स्वय को कुछ भी नहीं मिलेगा और जो मिला है वह भी प्रदर्शन को भेंट हो जायेगी।

लाल भवन, जयपुर :— दि० १९ अक्टूबर १९७२

योजना-चक्र

: २२९ :

केवल भावी योजनाओं के काल्पनिक इन्द्रधनुषी रग मे खोये रहना समय और जीवन का अपव्यय मात्र है। धैर्य पूर्वक सन्तुलित मानस एव मस्तिष्क से किसी एक कार्य का योजना-बद्ध निर्धारण कर उसे सम्पपूर्ण करने की ओर क्रियारम्भ कर देना चातुर्य है। बहुयोजनाओ के भँवर जाल मे उलझी हुई कार्य-नौका उतराव-चढाव पर आसीन होकर अतल मे खो जाती है।

लाल भवन, जयपुर :— दि० २० अक्तूबर १९७२

चिन्तन-स्थल

: २३० :

आध्यात्मिक-चिन्तन वेला मे शान्त और पवित्र वातावरण वाले स्थान की महती आवश्यकता है क्योंकि अशान्त और अपावन स्थान मे लौकिक समस्याओ का प्रवाह उमडता रहता है जिससे चिन्तन विच्छिन्न हो जाता है और उन समस्याओ से आक्रान्त जीवन स्वय मे अशान्ति का अनुभव करने लगता है।

लाल भवन, जयपुर :— दि० २१ अक्तूबर १९७२

उत्साह

: २३१ :

उत्साह जीवन की सफलता का अविरल स्रोत है। उत्साह-हीन मानव का साधारण कार्य भी सफल नहीं होने पाता। उत्साही व्यक्ति कठिन कार्य को भी प्रसन्नता के साथ स्वीकार कर लेता है और उसे सम्पादन कर आन्तरिक सुख का अनुभव करता है। अतः उत्साह की अभिवृद्धि सर्वतोभावेन आवश्यक है।

लाल भवन, जयपुर :— दि० २२ अक्टूबर १९७२

वचनवीर और कर्मवीर

: २३२ :

वाणी का शूरवीर प्रायः कार्यस्थल पर पलायनवादी ही सिद्ध होता है। जब तक कार्य करने का अवसर नहीं आता, तबतक सभवतः उसकी महत्ता कायम रह सकती है। परन्तु कार्य करने का समय आते ही उसकी पलायनवादिता एव कार्य के प्रति अप-टुता सारा पर्दाफाश कर देती है। अतः वाणी के वीरों के बलपर किसी कार्य को हाथ मे नहीं लेना चाहिए। जिसने अल्प भाषण और वृहत् कार्य-सम्पादन से अपनी योग्यता का परिचय दे दिया है, उसी को योग्य मात्र समझकर कार्य नियोजित करना चाहिए।

लाल भवन, जयपुर :— दि० २३ अक्टूबर १९७२

यशोलिप्सा और स्वार्थ-भावना

: २३३ :

केवल यशोलिप्सा से ही किसी कार्य को हाथ मे लेने की आदत व्यक्ति को गिराने वाली होती है। मानव जैसे सामाजिक प्राणी को कुछ कार्य जन-कल्याण की भावना से भी करते रहना चाहिए। यही कर्त्तव्य-धर्म का पालन है। विचार करें कि यदि सभी व्यक्ति स्वार्थ एव यशोलिप्सा से ही काम करना जीवन का ध्येय बना लें तो विश्व-समाज की क्या स्थिति होगी ?

इसके अतिरिक्त एक बात और है, यशोलिप्सा से अथवा स्वार्थ-भावना से किये गये कार्य के सफल हो जाने पर भी यदि यश न मिला और स्वार्थ-सिद्ध न हो सका तो मन की कैसी स्थिति होगी ?

अस्तु सभी दृष्टियो से यशोलिप्सा एव स्वार्थ-साधन की भावना परिहार्य है।

लाल भवन, जयपुर :— दि० २४ अक्टू

सत्य भाषण का दम्भ

: २३४ :

किसी से वैर निकालने व उसको नीचा दिखलाने का एक बड़ा ही विचित्र तरीका देखने मे आता है। अपने प्रतिपक्षी निन्दा-पात्र के गुप्त दोष तथा छिपे हुए दुर्गुण को अपने छल की चिमटी से कीड़े की भांति पकड कर हम जनता के सामने प्रकट कर अपने सत्यवादी होने का स्वांग रचते हैं परन्तु भीतर मे सोया हुआ ईर्ष्या-द्वेष का सांप हमारे मानस को जहरीला बनाकर हमे ही मार रहा है इस तथ्य को हम नहीं पहचानते।

लाल भवन, जयपुर :— दि० २६ अक्टूबर १६७२

कोडुम्बीय

: २३५ :

हमारी प्राचीन सस्कृति मे सभ्यता का रूप कितना मधुर और आत्मीयतापूर्ण है, इसका परिचय उस समय प्रयुक्त होनेवाले शब्द देते हैं। आज आगम अध्ययन करते समय 'नौकर' के लिए 'कोडुम्बीय' शब्द का प्रयोग पढकर ऐसा अनुभव हुआ। वास्तव मे शब्द मे कितनी शक्ति और कितना आकर्षण है, यह तो कुशल प्रयोक्ता ही जान सकता है।

लाल भवन, जयपुर :— दि० २५ अक्टूबर १६७२

आत्मीयता उत्पादक शब्द

: २३६ :

शास्त्रो मे प्राचीन सस्कृति और सभ्यता के जो पृष्ठ मानवीय प्रेम से ओत-प्रोत है, उनका गहन अध्ययन, मनन, चिन्तन आज के नीरस और अनात्मीयतापूर्ण वातावरण को सुधारने के लिए परमावश्यक है। उस समय पारिवारिक एव परिजन शब्द के अन्तर्गत घर मे कार्य करने वाले दास-दासियाँ, नौकर-चाकर आदि भी निर्धारित थे। उसी के अवशेष रूप में यत्र-तत्र आज भी घर मे रहने वाले पुराने नौकरो-नौकरानियों को दादा-दादी, चाचा-चाची, मौसी आदि कौटुम्बिक भावजन्य शब्दों से पुकारा जाता है। ऐसे शब्द उन नौकरों को मालिक के घर को अपना घर तथा मालिक के परिवार के लोगों को अपने परिवार के व्यक्ति समझने की स्वाभाविक प्रेरणा देते है। हमे इस प्रवृति को बढावा देना चाहिए।

लाल भवन, जयपुर — दि० २७ अक्टूबर १९७२

त्रुटि

: २३७ :

त्रुटि करना मनुष्य के स्वभाव मे पाया जाने वाला एक प्राकृतिक दोष है। परन्तु त्रुटि करके सीख वही सकता है, जो इस त्रुटि को महसूस कर उसे दुबारा न करे। प्रायः देखा जाता है कि अपने से छोटा आदमी कोई त्रुटि करता हैं तो हम बरस पड़ते है। अपनी त्रुटि को प्रथम तो स्वीकार ही नहीं करते और यदि उसे स्वीकार ही करना पडे तो इच्छा यही रहती है कि अपने से बडे उसे उदारतापूर्वक क्षमा कर दें तथा छोटे उन पर ध्यान देकर अनधिकार चेष्टा न करें। वास्तव मे यही सबसे बडी मानसिक दुर्बलता है, जो हमारे मिथ्याभिमान एव दम्भ का पोषण करती हैं।

लाल भवन, जयपुर :— दि० २८ अक्टूबर १९७२

अहम् का ज्ञान

: २३८ :

अहं पर विजय पाना अत्यन्त कठिन है। व्यक्ति की योग्यता एवं कार्य के अनुकूल यह अहं विविध रूप धारण कर आत्म-पोषण का तत्त्व ग्रहण करता रहता है। व्यापारी मे "मैं और मेरा व्यापार" रूप मे, छात्र मे "मैं और मेरा विशाल अध्ययन" रूप मे, आचार्य मे "मैं और मेरा उपदेश" रूप मे और इसी प्रकार अन्य व्यवसाय कार्य करने वालों तथा अध्यात्म-साधना-पथ के पथिको मे 'अहम्' अपनी स्थिति बनाये रखता है। इसकी यह व्यापकता तभी समझ मे आ सकती है, जबकि व्यक्ति अपने से दूसरो को महान् समझना आरम्भ कर दे।

लाल भवन, जयपुर :— दि० २९ अक्टूबर १९७२

संसार एक विश्वविद्यालय

: २३९ :

जो शिक्षार्थी है, उसके लिए सर्वत्र शिक्षक उपस्थित है। प्रकृति का प्रत्येक पदार्थ और चेतना-परिपूर्ण प्रत्येक जीव व्यक्ति को कोई न कोई शिक्षा देता ही है। एक चीटी की जीवन-क्रिया को यदि हम ध्यान से पढे व देखे तो यह छोटा-सा प्राणी हमे उत्साह तथा परिश्रमपूर्वक कार्य करने का महान् सन्देश देता है। वास्तव मे शिक्षार्थी के लिए समग्र ससार एक विश्वविद्यालय है और सभी उपकरण तथा चेतन जीव इस विश्वविद्यालय के अपने विषय के पारगत परमाचार्य हैं। कवि ने ठीक ही कहा है :—

यह विश्व है विद्यालय, तुम छात्र वन जाओ।
जड़ शिक्षकों से सीख लो, कुछ योग्य वन जाओ॥

लाल भवन, जयपुर :— दि० ३० अक्टूबर १९७२

मोह की ज्वाला

: २४० :

मोह की ज्वाला अत्यन्त भीषण और व्यापक है। प्रकाण्ड विद्वान् होकर भी व्यक्ति प्रायः इस मोह पर विजय नहीं पा सकता। मोहासक्ति को ज्वाला-पतग कहे तो अनुचित न होगा। जैसे पतगा हिताहित का ज्ञान-ध्यान भूलकर उसमे जल मरने के लिए खीचा आता है, उसी प्रकार व्यक्ति इस ज्वाला मे झुलसने के लिए स्वय इसके निकट आता है। ज्ञानामृत से इस ज्वाला का शमन कोई विरले ही व्यक्ति कर पाये है।

लाल भवन, जयपुर :— दि० ३१ अक्टूबर १९७२

अनुभूतिजन्य प्रकाश

: २४१ :

कई वार जीवन मे वैराग्य के ऐसे प्रसग उपस्थित हो जाते हैं, ऐसी घटना घटित हो जाती हैं कि जीवन लौकिक वातावरण को त्याग कर तप के मार्ग की ओर वढने लगता है। जीवन की इस परिवर्तनमयी स्थिति मे यदि सयमपूर्वक स्थिरता धारण कर ली जाय तो आन्तरिक सत्य का अनुभूति-जन्य प्रकाश चारों ओर प्रस्फूटित होने लगता है। विश्व के महान् सन्तों की जीवन-गाथायें हमे ऐसा ही सन्देश देती है।

लाल भवन, जयपुर :— दि० १ नवम्बर १९७२

चार द्वार

: २४२ :

नगर के चार द्वारों की भान्ति आत्म-कल्याण के भी चार मुख्य द्वार माने गये है—क्षमा, निर्लोभता, ऋजुता और मृदुता। शास्त्रो मे इन चारों का सूत्र रूप मे उल्लेख है और चर्चारूप मे विस्तार है। इन चारो मे से यदि एक भी द्वार मे प्रवेश पा लिया जाता है तो मुक्ति फिर दूर नहीं रहती।

"चतारि धम्मदारा पण्णत्ता तजहा खति मुक्ति उज्जेव मघवे"

लाल भवन, जयपुर :— दि० २ नवम्बर १९७२

प्रथम मुक्ति-द्वार

: २४३ :

क्षमा मुक्ति-नगर या मुक्ति महल का प्रथम प्रवेश द्वार है। क्षमाशील व्यक्ति आत्मना पवित्र होता है। पवित्र आत्मा मे सत्य ज्ञान के उदय होते ही क्रोधादि मनोविकार उसमे प्रवेश नहीं कर पाते और व्यक्ति मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार क्षमा ही प्रथम मुक्ति-द्वार है।

लाल भवन, जयपुर :— दि० ३ नवम्बर १९७२

मुक्ति का दूसरा द्वार

: २४४ :

लोभ का तात्विक अर्थ भौतिक पदार्थों के प्रति अधिकाधिक या अधिकतम आकर्षण है। पदार्थ को पाने पर भी उसे और पाने की प्यास शान्त न हो, यही लोभ है। लोभी व्यक्ति कुबेर का कोप पाकर भी सन्तुष्ट नही हो सकता। अतः उसे चैन नहीं पडता। वह रात-दिन लोभ-लालसा के चक्र मे आरूढ होकर घूमता रहता है। ऐसी स्थिति मे आत्म-सुधार और आत्म-कल्याण की बात सुनने तक की फुरसत नहीं मिलती। अतः मुक्ति नगर मे प्रवेश करने के लिए प्राणी का निर्लोभी होना परमावश्यक है। यही मुक्ति का दूसरा द्वार है।

लाल भवन, जयपुर :— दि० ४ नवम्बर १९७२

लोभ का आन्तरिक रूप

: २४५ :

लोभ का चिंतन कल जो मस्तिष्क मे आया, वह भौतिक पदार्थों के प्रति व्यक्ति का शाश्वत आकर्षण था। परन्तु आज के चितन मे लोभ के आन्तरिक रूप का नक्शा सामने आ रहा है। मन सोचता है कि यश की तीव्र लालसा, अपने को उत्कृष्ट प्रदर्शन करने की भावना भी तो एक प्रकार का लोभ ही है, जिसके फेर मे पडकर व्यक्ति अपने विषय मे शान्तिपूर्वक कभी विचार ही नहीं कर सकता। हमे लोभ की इस आन्तरिक वृति पर भी विजय प्राप्त करना चाहिए।

लाल भवन, जयपुर :— दि० ५ नवम्बर १९७२

दीपमालिका

: २४६ :

आज दीपमालिका का पर्व है। सहस्त्रो दीपक एक एक अट्टालिका पर जगमगा रहे हैं। भवन, नगर, प्रदेश सभी इस प्रकाश मे आलोकित हो उठे हैं परन्तु हमारा आन्तरिक प्रकाश सोया पडा है अर्थात् भीतर अन्धेरा छाया हुआ है। इस पर्व के ऐतिहासिक गौरव का भी सम्भवतः हमे भान नहीं है। ऐसी स्थिति मे यह पर्व हमे क्या सिखला सकता है ?

लाल भवन, जयपुर :— दि० ६ नवम्बर १९७२

मुक्ति का तृतीय द्वार

: २४७ :

जव तक जीवन मे सरलता-ऋजुता का प्रवेश न हो तवतक मोक्ष की चर्चा व्यर्थ है। छल-कपट से आवेष्टित जीवन कभी कल्याण का पात्र नहीं होता। इसीलिए तो हमारे शास्त्र कहते है :—"सो ही उज्जुय भूयस्स धम्मो सुहस्स चिट्ठई' अर्थात् ऋजुभूत सरल हृदय से ही धर्म ठहरता है।

लाल भवन, जयपुर :— दि० ७ नवम्वर १९७२

सत्ता और सम्पत्ति

: २४८ :

सत्ता और सम्पत्ति दोनो का उपयोग विवेक के विना ठीक नहीं हो सकता। सत्ता पाकर अविवेकी मदोन्मत्त हो उठेगा और न्यायान्याय का विचार ही नहीं कर सकेगा। इसी प्रकार सम्पत्ति पाकर अविवेकी व्यक्ति अहकार से फूल उठेगा और स्वार्थवश अनाचार करेगा। अतः दोनो ही प्राप्त होने पर सदुपयोगार्थ विवेक मृदुताचतुर्थ द्वार की आवश्यकता है।

लाल भवन, जयपुर :— दि० ८ नवम्वर १९७२

प्रतिष्ठा पर आक्रमण

: २४६ :

व्यक्ति ससार मे प्रतिष्ठापूर्ण जीवन बिताना चाहता है। समाज मे प्रतिष्ठा बनी रहे या बढे, यही सामान्यतया व्यक्ति की इच्छा होती है और इसी के लिए वह सुख-दु.ख सहन कर निरन्तर प्रयत्न करता रहता है। अपनी प्रतिष्ठा बनाने के लिए कइयो को तो बड़ी मेहनत करनी पडती है। इसी परिश्रम से पाई हुई प्रतिष्ठा पर यदि कोई व्यक्ति प्रहार करता है तो आक्रान्त उसे सहन नहीं कर सकेगा, जिससे मनो-मालिन्य, ईर्ष्या-द्वेष, कलह आदि उत्पन्न होगे।

लाल भवन, जयपुर :— दि० ६ नवम्बर १६७२

क्रोध

: २५० :

क्रोध मनुष्य को इतना पागल वना देता है कि कर्तव्याकर्तव्य का उसे तनिक भी भान नहीं रहता। कई वार व्यक्ति क्रोधावेग मे अकरणीय कार्य करके जीवन भर परिताप और ग्लानि में भीतर ही भीतर छटपटाता रहता है। अतः जव जीवन मे शान्ति और निर्मलता का स्त्रोत वह रहा हो तव क्रोव से हानेवाले दुष्परिणामो पर गहनता से विचार करना चाहिए।

लाल भवन, जयपुर :— दि० १० नवम्वर १९७२

जय-पराजय

: २५१ :

जय-पराजय की भावना व्यक्ति को तथ्य की ओर से आंखे मीचने तथा अह के अस्तित्व को वनाये रखने की ओर ले जाती है। व्यक्ति उचित-अनुचित तर्कों द्वारा दूसरे को परास्त करने मे अपनी योग्यता को कसौटी मानकर जव चलता है तो तथ्य के प्रति आस्था जागृत नही हो पाती और ऐसी स्थिति में भ, छल, कपट आदि के दाव-पेचों मे ईर्ष्या-द्वेप का अखाड़ा जोर पकडने लगता है, जिससे जीवन के सद्‌गुणो का शनैः शनैः लोप हो जाता है।

लाल भवन, जयपुर :— दि० ११ नवम्वर १९७२

संशय निवृत्ति

: २५२ :

जवतक मन किसी कार्य या प्रवृति के विषय मे सन्देहग्रस्त है, तव तक उस कार्य या प्रवृति को आरम्भ करना सफलता देनेवाला नहीं हो सकता। अतः पहले करणीय को सुपरिणाम-कुपरिणाम की दृष्टि से विचार लेने के वाद ही कार्य एव प्रवृति मे सलग्न होना चाहिए। ताकि फिर उसके वारे मे किसी भी प्रकार का सन्देह न रहे और मन उसमे एकाग्रता को प्राप्त कर सके।

लाल भवन, जयपुर :— दि० १२ नवम्बर १९७२

अभिरुचि और कार्य

: २५३ :

आन्तरिक अभिरुचि के विना किया गया कार्य यत्रवत् होता है, जिसके पूर्ण होने मे सन्देह वना रहता है। सयोगतः यदि वह सम्पन्न भी हो गया तो उससे आनन्दानुभूति न हो सकेगी। अतः विवशता अथवा दवाव से किया जानेवाला कार्य केवल एक नीरस क्रिया का उपक्रम मात्र होता है।

लाल भवन, जयपुर :— दि० १३ नवम्बर १९७२

अच्छा स्वभाव

: २५४ :

मनुष्य के गुणों का परिचय बाद में होता है और स्वभाव का पहले। गुणवान्-व्यक्ति भी यदि स्वभाव का अच्छा नहीं है तो उसके प्रति लोगो का खिंचाव नही होगा। कहा भी है—"अतीत्यहि गुणान् सर्वान् स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते।" अर्थात् सब गुणों से ऊपर स्वभाव है। नम्रता, कोमलता, मधुर भाषण, विनय-व्यवहार ये अच्छे स्वभाव के गुण है। अतः इन गुणो का समावेश स्वभाव मे करना चाहिए।

लाल भवन, जयपुर :— दि० १४ नवम्बर १९७२

प्रतीक्षा

: २५५ :

कल एक सज्जन आचार्यश्री के दर्शन करने दिल्ली से आये। वे अपने द्वारा देखी गई प्रदर्शनी का वर्णन मेरे सामने कर रहे थे। उन्होंने यह भी वतलाया कि इस प्रदर्शनी को देखने के लिए उन्हे तीन घटे पक्ति मे खडे होकर प्रतीक्षा करनी पडी। तबतक आचार्य श्री विश्राम कर रहे थे। उन्हे वताया गया कि दर्शन के लिए आपको पाच-दस मिनट प्रतीक्षा करनी होगी। इतना सुनते ही वे महाशय विना दर्शन किये व्हा से चले गये। वे तो चले गये परन्तु अपने पीछे एक चिंतन मेरे मस्तिप्क मे छोड़ गये। प्रदर्शनी देखने के लिए जो तीन घटे प्रतीक्षा कर सकते है, वे एक ऋषि का दर्शन करने के लिए पाच मिनट भी नहीं ठहर पाते। यह है हमारा भौतिकता की ओर वढता हुआ आकर्पण और आध्यात्मिकता की ओर होनेवाली अरुचि का एक उदाहरण।

लाल भवन, जयपुर :— दि० १५ नवम्वर १९७२

चश्मा

: २५६ :

चश्मे के कांच जिस रग के होंगें, उससे पदार्थों का रग वैसा ही जान पडेगा। हमारी विचार-दृष्टि मे किसी के प्रति जैसी भावना के रग का चश्मा चढ गया है, वह व्यक्ति हमे वैसा ही दिखलाई देने लगेगा, चाहे वह भला हो या बुरा। अतः सही परीक्षण करना हो तो किसी के प्रति सुनी-सुनाई वात के आधार पर पूर्व भावना नही वनानी चाहिए।

लाल भवन, जयपुर :— दि० १६ नवम्बर १९७२

संकल्प की दृढ़ता

: २५७ :

सकल्प की दृढता क्रिया की सिद्धि मे सहायक है। जो अपने सकल्प पर दृढ नहीं है और पलपल मे कितने ही विचारो का ताना-वाना वुनता रहता है, वह किसी भी कार्य को पूरा नहीं कर पाता। वह कितने ही कार्य आरम्भ करेगा और कितने को ही वीच मे छोड़ देगा।

लाल भवन, जयपुर :— दि० १७ नवम्बर १९७२

लौकिक जीवन में प्रतिष्ठा

: २५८ :

धार्मिक, सामाजिक अथवा राजनैतिक क्षेत्रों मे प्राप्त प्रतिष्ठा को व्यक्ति सहज ही मे खोना नहीं चाहता और यही इच्छा करता है कि प्राप्त प्रतिष्ठा उत्तरोत्तर सम्वर्धित होती रहे। प्रतिष्ठा की यह लौकिक भावना व्यक्ति को बुरे कृत्यों से बचाये रखती है। प्रतिष्ठा नष्ट हो जाने के भय से सामान्य व्यक्ति अपने आपको बुरे आचरणो से दूर रखता है। इस दृष्टि से प्रतिष्ठा का बाह्य मूल्य स्वीकार करने मे कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

लाल भवन, जयपुर :— दि० १८ नवम्बर १९७२

प्रतिष्ठा का मूल्य

: २५६ :

व्यक्ति अपनी प्राप्त प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए लाखो रुपये खर्च करने के लिए तैयार हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि प्रतिष्ठा का बाह्य मूल्य स्वीकार करने मे कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

लाल भवन, जयपुर :— दि० १६ नवम्बर १६७२

आरम्भ और अन्त

: २६० :

दिन के पीछे रात जैसे चली आ रही है, उसी प्रकार सुख के पीछे दुःख चला आ रहा है। रात-दिन की भान्ति दुःख और सुख की जोडी समझनी चाहिए। आज के वातावरण को देखकर यह चिंतन उद्भूत हो रहा है। चातुर्मास का आरभ हर्षोल्लास को लेकर आया और उसका अन्त सवके लिए दुःखकारी हो रहा है। यही वात्त जीवन के आरम्भ और अन्त के विषय मे यदि चिंतन कर ली जाय तो सहज ही वैराग्य वृत्ति का उदय होने लगता है।

लाल भवन, जयपुर :— दि० २० नवम्बर १६७२

व्यस्तता से लाभ

: २६१ :

अत्यधिक व्यस्तता जीवन को श्रान्त और क्लान्त बना देती है परन्तु एक दृष्टि से व्यस्तता जीवन-विकास तथा व्यवस्थित जीवन के लिए परमावश्यक है। व्यस्त रहने से अपने आवश्यक कार्यों का सुव्यवस्थित सम्पादन तो होता ही है, इसके साथ साथ व्यर्थ के चिंतन और व्यर्थ के कार्यों मे समय के अपव्यय होने का भी भय नहीं रहता। चातुर्मास के पश्चात् विहार की वेला मे अपनी व्यस्तता से यह चिंतन प्राप्त हुआ।

मूथा हाउस जयपुर :— दि० २१ नवम्बर १९७२

आचार्य श्री से विदाई

: २६२ :

आज आचार्यश्री से कुछ काल के लिये विदाई का प्रसंग है। इस विदाई वेला में वियोगानुभूतिजन्य भावनाये हृदय को उद्वेलित कर रही है। ज्ञान और चिंतन भी थोडी देर के लिए मानो विदाई ले चुके हैं। सहनशीलता की तपोजात साधना अपनेआप मे दुर्बलता का अनुभव कर रही है, लगता है कि अभी ममत्व मे समत्व की सम्पूर्ण व्यापकता नहीं होने पाई है, जिससे यह किञ्चित्-कालीन आचार्य-वियोग भी चित्त को उदास बना रहा है।

मूथा हाउस, जयपुर :— दि० २२ नवम्बर १६७२

समस्याओं से संघर्ष

: २६३ :

जीवन समस्याओ का एक आगार है। नित्य नवीन समस्याओं का उद्‌भव इसे झकझोरता रहता है। जन्म से लेकर मरण पर्यन्त व्यक्ति इन समस्याओं से जूझता रहता है। जूझने का यह क्रम व्यक्ति को सहनशीलता तथा मानसिक मजबूती भी प्रदान करता है, यदि व्यक्ति विवेकपूर्वक इनका सामना करे। विवेक के अभाव मे समस्यायें जीवन को निर्वल, उदास एव निराश बना देती है और विकास-क्रम मे बाधक बन जाती है। समस्याओं से उत्पन्न दुःख का सामना करने के लिए कवि का यह पद्य स्मृति मे रहे तो और भी अच्छा है :—

देह भई तो दुःख भया, देह बिन दुःख न होय।
ज्ञानी भोगे ज्ञान से, मूरख भोंगे रोय॥

पावर हाउस, जयपुर :— दि० २३ नवम्बर १९७२

स्याद्वाद की उपादेयता

: २६४ :

स्याद्वाद या अनेकान्तवाद महावीर प्रभु की अनुपम देन कही जा सकती है। आज धर्मों मे सत्य के स्वरूप के स्थापन को लेकर विभिन्न प्रकार के विवादास्पद झगडे देखे जाते है। सभी अपने अपने धर्मों और सिद्धान्तों को सत्य का सही रूप-प्रतिपादक मानते हैं, परन्तु स्याद्वाद या अनेकान्तवाद प्रत्येक सत्य को एक रूप मे सत्य स्वीकार करता है और सत्य के अस्तित्व के विषय मे उदारता पूर्वक चिंतन करने की दिशा प्रदान करता है। इससे हम पदार्थ के सम्पूर्ण स्वरूप को भलीभान्ति समझ सकते है। अतः स्याद्वाद अनेकान्तवाद एक उदार दार्शनिक दृष्टिकोण है।

ठिकरिया :— दि० २४ नवम्बर १९७२

स्वाभाविक प्रवृत्तियों का संगोपन

: २६४ :

स्वाभाविक प्रवृति को छिपाना व्यक्ति के वस की वात नहीं हैं। कितना ही प्रयत्न उसे छिपाने का किया जाय, वह किसी न किसी व्यवहार अथवा वचन से प्रगट हो ही जाती है। इस प्रसग मे सस्कृत उक्ति है :—'नैत्र वक्त्रविकारेण नरो जानाति सारताम्' अर्थात् नैत्रों और मुख पर उभरने वाले मनोविकार व्यक्ति की स्वाभाविक प्रवृति का परिचय दे देते है। महात्मा कवीर ने इस पहचानने के लिए वाणी को प्रधानता दी है वे लिखते है :—

वोल्त ही पहिचानियें, साहु चोर को घाट।
अन्तर की करनी सवै, निकसें मुह की वाट।

वास्तव मे स्वाभाविक प्रवृतियो का सगोपन कठिन काम है।

वगरु :— दि० २५ नवम्बर १९७२

श्रद्धा का मंगलमय रूप

: २६६ :

श्रद्धा जीवन मे आध्यात्मिक जागरण लाती है परन्तु उसमे विवेक का सम्पुट होना आवश्यक है। इसके साथ श्रद्धा की स्वाभाविकता ही ग्राह्य होनी चाहिए। जहा श्रद्धा के प्रदर्शनकारी तरीके ग्रहण होने लगते है, वहा श्रद्धा मिथ्यात्व तथा आडम्बरयुक्त हो जाती है। कहने का मतलब है कि श्रद्धा मे छल तथा कृत्रिमता का समावेश न हो। ऐसी विशुद्ध श्रद्धा स्वाभाविक होती है और सभी तरह से मगलकारिणी होती है।

गाडोता (महादेव पोल) :— दि० २६ नवम्बर १६७२

भावात्मक एकता

: २६७ :

विशुद्ध स्नेह की धारा वह निर्मल स्रोत है, जिसमे जीवन के वाह्य भेदभाव घुलकर वह जाते हैं और व्यक्ति तथा समाज मे एकरूपता का दर्शन होने लगता है। ऐसा निर्मल स्नेह जहा भी उत्पन्न हो जाता है, वाह्याचार तथा वाह्य सिद्धान्त-भेद गौण हो जाते है। अर्थात् पारस्परिक सिद्धान्त एव विचार-भेद होते हुए भी आन्तरिक निर्मल स्नेह व्यक्तियो को नैकट्य प्रदान कर सकता है, यही निर्मल स्नेह की अनुभूति है। इसी को आज की भाषा मे भावात्मक-एकता कहते है।

दूदू :— दि० २७ नवम्बर १६७२

साधना की सही स्थिति

: २९८ :

साधना का सम्बन्ध विशेषतया व्यक्ति के आभ्यन्तरिक (आत्म) ससार से है। बाह्याचारों मे तो यदाकदा उसके लक्षण मात्र प्रगट होते है। यदि 'भीतर' साधना से रिक्त है तो बाह्याचार अथवा बाह्य व्यवहार केवल साधना का प्रदर्शन मात्र होगा। ऐसी स्थिति मे साधना के प्रति लोगो का भाव कौन सी दिशा ग्रहण करेगा, यह कहा नहीं जा सकता। अतः प्रथम आन्तरिक साधना जागृत करना चाहिए और फिर उसी का समयोचित ढग से प्रकाशन करना चाहिए।

पगसोली :— दि० २८ नवम्बर १९७२

विचार और आचार

: २९९ :

विचारजनक है और आचार जन्य। जन्यशुद्धि जनक पर भी बहुअशतः आश्रित है। अतः आचार शुद्धि के लिए विचार शुद्धि का होना परमावश्यक है। कहा भी है :—"विचार बिगड़ा तो आचार बिगड़ा।"

पारण :— दि० २९ नवम्बर १९७२

सामान्य उदारता

: २७० :

लौकिक जीवन को सन्तुलित ढग से विताने के लिए एक व्यवस्था की आवश्यकता तो होती ही है। विना उसके जीवन अस्तव्यस्त हो जायेगा। उस व्यवस्था के पश्चात् व्यक्ति निश्चित स्थिति को प्राप्त करता है और उसे समाज तथा व्यक्ति की निस्वार्थ सेवा का पुनीत अवसर मिल जाता है। इस अवसर का व्यक्ति जितना अधिक उपयोग करेगा, वह उतना ही उदारता-सम्पन्न कहा जायेगा। अतः उदारता का यह तात्पर्य ग्रहण नही करना चाहिए कि व्यक्ति अपनी जीवन-व्यवस्था को विगाड कर पर-कल्याण में निरत हो। यह एक सामान्य दिवेचन है विशेष नहीं।

मदनगज :— दि० ३० नवम्बर १९७२

विचार-शुद्धि-आत्म-तुष्टि

: २७१ :

आत्मतोष और आत्म-शान्ति के लिए शुद्ध स्वस्थ विचार नितान्तावश्यक है। अशुद्ध और अस्वस्थ विचारो से आत्मतोष एव आत्मतोषमयी शान्ति पाने का प्रयत्न बालू से तेल निकालने का मूढ प्रयत्न मात्र है।

मदनगज :— दि० १ दिसम्बर १९७२

सम्प्रदाय बुरा नहीं, साम्प्रदायिकता

: २७२ :

'सम्प्रदाय' शब्द अपने रूप मे स्वच्छ है किसी विशिष्ट विचार-धारा का सामूहिक रूप से मनन-अनुगमन सम्प्रदाय कहलाता है। परन्तु स्वार्थी व्यक्तियो ने सम्प्रदाय मे प्रवेश कर उस विचारधारा को ऐसी ठेस पहुचाई कि 'सम्प्रदाय' शब्द का रूढार्थ सकुचित रूप का प्रकाशक हो गया। इस भ्रान्ति पूर्ण अर्थ के घेरे से 'सम्प्रदाय' शब्द को वाहर निकालने की बडी आवश्यकता है। 'सम्प्रदाय शब्द राष्ट्र तथा विश्व के साथ भी योजित किया जा सकता है, जैसे राष्ट्र सम्प्रदाय, विश्व सम्प्रदाय। अतः 'सम्प्रदाय' शब्द को वुरे अर्थ मे ग्रहण करना वहुत वड़ी अज्ञानता हैं। साथ ही यह भी ध्यान रखने की वात है कि सम्प्रदाय के नाम पर जघन्य कृत्य न किये जायें। वास्तव मे कुत्सित कर्म एव आचरण करके कतिपय सम्प्रदायवादियो ने 'सम्प्रदाय' शब्द को आज वदनाम कर दिया है। तभी आज हम कहते है कि साम्प्रदायिकता वुरी चीज है।

मदनगंज (किशनगढ) :— दि० २ दिसम्वर १९७२

मन को शान्ति

: २७३ :

मन को अशान्ति का प्रभाव शरीर की बाह्यमुखी क्रियाओ पर भी पडता है। उनमे अव्यवस्था होने लगती है और व्यक्ति ठीक ढग से किसी भी कार्य को सम्पादन नही कर पाता। अतः मूल मे मन को शान्ति आवश्यक है।

अजमेर :— दि० ३ दिसम्बर १९७२

निजी परिस्थितियों का उत्पादक कौन ?

: २७४ :

परिस्थिति के उद्भावक हमारे ज्ञाताज्ञात कर्म ही है। जैसे मकडी स्वय जाला तैयार करती है और अन्त मे स्वय उसमे फसकर छटपटाती है। यही दशा मनुष्य की है। स्वय परिस्थितिया पैदाकर मानव स्वय दुःखी होता है। परन्तु पूछने पर वह यही उत्तर देता है—'क्या करूँ' मैं परिस्थिति से जकडा हुआ हूँ। इसका सीधा सा समाधान यही है कि परिस्थितियां पैदा न करो तो सदैव बन्धन-मुक्त रहोगे।

अजमेर :— दि० ४ दिसम्बर १९७२

सत्कर्म और प्रतिष्ठा

: २७५ :

प्रतिष्ठा पाने के लिए अपने स्तर को गिराने से रहीसही प्रतिष्ठा भी जाती रहती है। अतः अपने स्तर को उन्नत बनाते हुए तदनुकूल सत्कर्म करने से जो स्वाभाविक-सहज प्रतिष्ठा मिलती है, वही सच्ची प्रतिष्ठा है। उस सात्विक प्रतिष्ठा से जन-जन की श्रद्धा, स्नेह तथा सद्भावना भी प्राप्त होती है। अतः अपने सत्कर्मों पर ही विशेष गतिशील होना मानव के लिए हितावह है।

मोती भवन, नसीराबाद, अजमेर :— दि० ५ दिसम्बर १९७२

सहनशीलता और धैर्य

: २७६ :

सहनशीलता और धैर्य ये दो महत्वपूर्ण गुण हैं। व्यक्ति मे इन दोनों का होना नितान्तावश्यक है। बहुधा व्यक्तियों से वार्तालाप तथा व्यवहार करते समय आकस्मिकरूपेग वातावरण मे कुछ गर्मी आ जाती है, जिससे वर्षो का आपसी स्नेह क्षण भर मे टूट जाता है। ऐसी स्थिति मे सहनशीलता और धैर्य उस प्रेम की रक्षा करने मे सहायक सिद्ध होते हैं।

तबीजी :— दि० ६ दिसम्बर १९७२

निराशा की घड़ी में

: २७७ :

अदम्य उत्साह और कठिन प्रयत्न से असभव भी सभव बन जाता है, यह सत्य है। परन्तु कभी-कभी इस सिद्धान्त का प्रतिफल न देखकर मन वडा निराश हो जाता है। ऐसी घडी मे हमे उस चीटी की कहानी याद रखनी चाहिए जो दाना लेकर दीवार पर कई वार चढी और गिरी परन्तु अन्त मे ऊपर चढने मे सफल हो गई।

जेठाणा :— दि० ७ दिसम्बर १९७२

लक्ष्य-शुद्धि—विचार शुद्धि

: २७८ :

लक्ष्य की विशुद्धि हमारे जीवन में सुन्दर और स्वस्थ विचारों एव चिन्तन का विकास करती है। अतः यह भी एक तरीका है कि हम सुन्दर और स्वस्थ विचारों के उदय के लिए प्रथम सुन्दर लक्ष्य की स्थापना करें।

जेठाणा :— दि० ८ दिसम्बर १९७२

योग्यता का सही प्रयोग

: २७९ :

समाज, परिवार तथा व्यक्ति के सहयोग से जो कुछ योग्यता हमने प्राप्त की है, उसका सदुपयोग अपने जीवन निर्माण मे तथा समाज-परिवार-निर्माण मे करना एक प्रकार से ऋण-शोधन है। परन्तु केवल अपने को उच्च एव विशिष्ट प्रदर्शित करने की भावना से योग्यता का प्रयोग अह को उत्पन्न कर व्यक्तित्व को गिरा देने वाला होता है।

खरवा :— दि० ६ दिसम्बर १९७२

मानापमान का अनुभव

: २८० :

मानापमान की चिनगारी जीवन की विनम्रता और सरलता के रेशम को जलाकर भस्म कर देती है। जो भी हमारा मानापमान करता है· वह अपनी योग्यतानुसार एव साधुता-असाधुता का परिचय देता है, उसके लिए हम दुःखी क्यो बने ?

व्यावर :— दि० १० दिसम्बर १९७२

साधना और ब्रह्मचर्य

: २८१ :

साधना और ब्रह्मचर्य का अभिन्न सम्बन्ध है। अतः साधना के पथिक को ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। ब्रह्मचर्य हीन व्यक्ति का शरीर निर्वल तन मन शिथिल एव उत्साहहीन हो जाता है। ऐसी स्थिति मे साधना का पालना कठिन हो जाता है। अतः ब्रह्मचर्य-पालन की ओर सजगता से ध्यान रखना चाहिए।

व्यावर :— दि० ११ दिसम्वर १९७२

सत्प्रयत्न — सत्कार्य

: २८२ :

सत्प्रयत—सत्कार्य की सिद्धि का सम्पादक है। अतः सत्कार्य करने वाले को सत्प्रयत्नशील होना चाहिए। कुप्रयत्नो से सत्कार्य सिद्ध हो, यह उसी प्रकार असभव है, जिस प्रकार वबूल के वीज से आम का वृक्ष। सत्प्रयत्नों से कार्य की सफलता के आसार ज्यों-ज्यों प्रगट होने लगते हैं, मन दुगुने उत्साह और उमंग से भर जाता है।

व्यावर :— दि० १२ दिसम्बर १९७२

रुचि की पुष्टि : आत्म तुष्टि

: २८३ :

श्रोता श्रव्य मे, द्रष्टा दृश्य मे, वक्ता वक्तृत्व मे अपने मनोनुकूल विषय को पाकर ही सन्तुष्ट होता है। यही तथ्य अध्यापन क्रिया मे भी निहित है। अध्यापनकर्त्ता की भी एक विशिष्ट रुचि होती है। उसी रुचि के अनुकूल विषय पढाने मे उसे जैसा आनन्द का अनुभव होता है, वैसा आनन्द अन्य विषयो को पढाने मे नहीं होता। तत्वार्थ यह है कि रुचि के अनुकूल कार्य एव विषय की ग्राह्यता अपने लिए सन्तोषकारी तथा दूसरों के लिए लाभदायक होती है।

ब्यावर, नयावास :— दि० १३ दिसम्बर १९७२

साध्य का निर्धारण

: २८४ :

साध्य का निर्धारण सोचसमझकर पूर्ण विवेक के साथ करना चाहिए अन्यथा किसी अकल्याणकारी साध्य की सिद्धि मे परिश्रम की निष्फलता प्रमाणित होगी और हृदय दुःखी हो जायेगा।

ब्यावर, नयावास :— दि० १४ दिसम्बर १९७२

प्रच्छन्न तस्करता

: २८५ :

वाह्य क्रियाजन्य तस्करता से मानसिक क्रियाजन्य तस्करता कोई कम खराव या दोषपूर्ण नही होती, चाहे भावात्मक होने के कारण वह कानून की पकड़ में आकर दण्ड का कारण न वने। व्यक्ति किसी वस्तु या व्यक्ति को देखकर यदि लोभ या कामवश उसका मानसिक अनुभव कर रहा है और भीतर ही भीतर कुत्सित भावनायें जागृत करता है तो वह प्रच्छन्न रूप से तस्कर-क्रिया मे सलग्न है। ऐसी स्थिति मे वह किसी भावज्ञाता व्यक्ति की पकड मे आ जाता है तो सकोच अथवा भय से सिहर भी उठता है। अतः सत्पथगामी व्यक्ति को मानसिक तस्कर-व्यापार से भी दूर रहना चाहिए। यह आत्म-पतन एव आत्मिक दौर्बल्य का कारण बनकर वाह्य प्रतिष्ठा-विघातक भी हो सकता है।

व्यावर, नयावास :— दि० १५ सितम्बर १९७२

योग्यता और अधिकार

: २८६ :

योग्यता से अपने आप खींचे आ रहे अधिकार हमारे लिए सुखद हैं। प्रयत्न विशेष से प्राप्त किये गये अधिकार न तो परिणाम मे सुखावह हैं और न उनमे स्थायित्व रहता है। प्रयत्नों के शिथिल होते हो वे भी शिथिल हो जाते हैं। अत व्यक्ति को सर्वप्रथम ऐसी योग्यता प्राप्त करनी चाहिए कि अधिकार स्वय योग्यता से मुग्ध होकर सामने उपस्थित हो जायें।

ब्यावर, नयावास :— दि० १६ दिसम्बर १९७२

गहराई और अध्ययन

: २८७ :

पानी के ऊपर तैर जाना एक प्रशसास्पद कला है। परन्तु पानी की गहराई में डुबकी लगाकर तैरते हुए अतल के रत्न प्राप्त करना उससे भी अधिक प्रशसनीय है। यही बात अध्ययन के बारे मे समझनी चाहिए। सामान्य पठन-पाठन भी ठीक है परन्तु गभीर अध्ययन से ज्ञान-रत्न को प्राप्त करना उससे कहीं बड़ी बात है।

ब्यावर (नयावास) :— दि० १७ दिसम्बर १९७२

व्यवहार-दर्शन

: २८८ :

कई वार कई स्थानों पर चली आ रही सामाजिक परम्परायें चालू क्रम मे व्यवधान उपस्थित कर देती हैं। आज एक महात्मा की देहावसान हो गया था, अतः मन इस उलझन मे था कि आज का व्याख्यान बन्द रखा जाय या नहीं। अन्त में देशकाल-परिस्थिति को ध्यान में रखकर व्यवहार को अपनाना ही श्रेयस्कर प्रतीत हुआ। नवनीत यह उपलब्ध हुआ कि अपने धार्मिक विधान को ठेस लगे विना व्यवहार को निभाना पड़े तो स्थिति देखकर तदनुकूल कार्य करना ही युक्तिसगत रहता है।

ब्यावर (नयावास) :— दि० १८ दिसम्बर १९७२

वासना-विजय

: २८९ :

वासना पर विजय पाना है तो पहले उसके कारणो पर विजय पाना चाहिए। बीज-वपन होगा तो समय पाकर अकुर भी प्रगट होगे। अतः मूलतः बीज का विनाश अपेक्षित है न कि अकुर का। वासनोत्पादक मूल कारण का निवारण होते ही कार्य स्वयमेव समाप्त हो जायेगा।

ब्यावर (नयावास) :— दि० १९ दिसम्बर १९७२

सत्योपासना

: २६० :

हम दूसरों से यह अपेक्षा रखते हैं कि वे सत्य-भाषण करें और हमारे सामने तथा अन्यत्र झूठ न बोलें परन्तु स्वयं अपने उपदेश को स्वीकार नहीं करते। ऐसी स्थिति मे दूसरे से सत्य श्रवण की अपेक्षा रखना अज्ञान के सिवाय क्या हो सकता है? अस्तु, सत्य के ग्राहक पहले स्वय वनें, फिर दूसरों से सत्य की अपेक्षा रखें। यही न्याय-सगत और कल्याणकारी है।

व्यावर (नयावास) :— दि० २० दिसम्वर १६७२

स्वान्तः परान्तः दृष्टि-दर्शन

: २६१ :

दूसरी वस्तु पर दोषदर्शिनी दृष्टि सहज मे आत्मपरक नहीं वन पाती। आत्म-निरीक्षण के स्थान पर परनिरीक्षण ही उसे अधिक प्रिय होता है। आत्म-दोषों पर अवगु ठन डालना और परदोषो का रुचि के साथ वर्णन करना, इसका स्वभाव है। जव तक इस भव्य विचार का उदय नहीं होता कि स्वय के दोष गुण कर्म-सुकर्म ही 'स्व' को दूपित-अदूपित करते हैं, तव तक दृष्टि स्वान्तर्दर्शिनी नहीं हो सकेगी। अतः स्वाध्याय, स्वचिंतन, स्ववोध का अभ्यास करने की ओर हमारी गति होनी चाहिए।

व्यावर :— दि० २१ दिसम्वर १६७२

आसक्ति और ममत्व

: २६२ :

आसक्ति मे मोह की प्रवलता होती है। व्यक्ति अपने से असम्वन्धित पदार्थ को अपना मानकर उसमें मन को फसा लेता है। फिर उस पदार्थ के ह्रास-विकास में दुःख सुख का अनुभव करता है। अज्ञान तथा मोह के आवरण से वह नहीं समझ पाता कि जिन्हे तू अपना मान बैठा है, वे सब तेरे साथ जाने वाले नहीं है। वे सब यहीं रह जावेंगे। आसक्ति के इस तपोमय परदे को हटाने के लिए सत्य ज्ञान का प्रकाश अपेक्षित है। उसके बिना इस जगत्-बन्धन से छुटकारा सभव नहीं है।

ब्यावर :— दि० २२ दिसम्बर १६७२

अति सर्वत्र वर्जयेत्

: २६३ :

"अति सर्वत्र वर्जयेत्" का सिद्धान्त केवल खाने पीने तथा अन्यान्य कार्यो तक ही सीमित नहीं है, यह वाणी पर भी उसी ढंग से लागू होता है अर्थात् व्यक्ति का अधिक बोलना भी सभी दृष्टियो से हानिकारक है। अतः वाक्-सयम का पालन जीवन में अत्यावश्यक है।

ब्यावर :— दि० २३ दिसम्बर १६७२

महापुरुष का रूप

: २६४ :

कभी-कभी व्यक्ति चाहता है कि ससार के महापुरुषो की सूची में उसका भी नाम लिखा जाये परन्तु वह इस बात पर ध्यान नहीं देता कि वह जो कुछ कार्य कर रहा है, वह उसे कैसा पुरुष बनाने वाला है ? आदर्शों के गीत गाने तथा आत्मोत्थानकारी विषयों पर वृहत् भाषण देने मात्र से व्यक्ति महापुरुषत्व की ओर अग्रसर नहीं होता, जब तक कि जीवन मे उन आदर्शों एव सुखद विचारों को स्थान नहीं मिले। हमारे आचरण, कार्य और विचार यदि उत्तम हैं तो हम अपने आप मे महापुरुषत्व प्राप्त कर चुके हैं, दुनियां को इसका भान हो या न हो।

ब्यावर :— दि० २४ दिसम्बर १९७२

घटना और आत्मविकास

: २६५ :

घटनाओ का बडा छोटा होना कुछ माने नहीं रखता। घटनायें व्यक्ति की अपनी समझ के अनुसार अनुभव एव दिशा प्रदान करती हैं। एक चिन्तनशील व्यक्ति साधारण घटनाओं से जितना सीख सकता है, उतना एक अल्पबुद्धि व्यक्ति विशिष्ट घटनाओं से भी नहीं सीख सकता। घटित होने वाली घटनाओं का जो सूक्ष्म दृष्टि से चिन्तन करता जाता है उसका ज्ञान उत्तरोत्तर विस्तार को प्राप्त होता है। अतः कोई भी घटना स्वय मे न छोटी है और न बडी।

ब्यावर :— दि० २५ दिसम्बर १६७२

प्रकृति और अनुशासन

: २६६ :

प्रकृति की सुव्यवस्था हमे अनुशासन की महत्ता समझाती है, और इसका अव्यवस्थित रूप अनुशासनहीनता का कुपरिणाम सामने रखता है यदि हम महत्वशाली बनना चाहते है तो प्रकृति के व्यवस्थित रूप से शिक्षा ग्रहण करें और यदि कुपरिणामी होना चाहते है तो उसके अव्यवस्थित रूप का अनुसरण करें।

ब्यावर :— दि० २६ दिसम्बर १६७२

अनुभूतियों की धारा

: २९७ :

अनुभूति ज्ञान-स्रोत की अविरल धारा है। इस धारा मे कितनी ही अन्य धारायें हमारे जीवन को नये सगीत से भरकर आगे बढ जाती है। हमे उस संगीत का सही आनन्द यदि लेना है तो अन्तःकोष मे उसे सज्जित रखना चाहिए। इसी का दूसरा नाम आत्म-निर्माण एव आत्म-विकास है।

ब्यावर :— दि० २७ दिसम्बर १९७२

कल्याण-पथ

: २९८ :

दूसरों की त्रुटियो पर ध्यान देने से हमे क्या मिलने वाला है और अपनी त्रुटियो को छिपा लेने से कौन सा कल्याण होनेवाला है? यही मूल चिन्तन हमारे सामने है। दूसरे ने यदि अपनी त्रुटियों का परिमार्जन कर भी लिया तो लाभ उसी को होगा। अतः दूसरे की ओर न झाक कर अपनी ओर झांकना तथा आत्म-शोधन करते जाना ही कल्याण पथ का अनुसरण है।

ब्यावर :— दि० २८ दिसम्बर १९७२

हिंसक-वृति

: २६६ :

आवश्यकता पूर्ति के अनुकूल सग्रह बुरा नही परन्तु आवश्यकता से वाहर सग्रह करना दूसरो के लिए तकलीफें उत्पन्न करना है। यह तकलीफ हिंसा नही तो हिंसा को प्रोत्साहन देने वाली अवश्य है क्योंकि इससे सभी लोग सग्रह की ओर झुकते है और एक दूसरे के लिए वस्तु का अभावजन्य कष्ट पैदा करते है। परिणामतः हिंसात्मक सघर्षो का जन्म होता है। इसके साथ-साथ सग्रह से ममत्व एव वस्तु आसक्ति उत्पन्न होकर हमारे साधना पथ मे बाधा उपस्थित करते हैं। इस दृष्टि से भी सग्रह वृति हानिकारक है।

ब्यावर :— दि० २६ दिसम्बर १६५२

संयोग वियोग की भ्रान्ति

: ३०० :

बाहर के पदार्थों का हमारे साथ कोई सम्बन्ध नहीं। इसी प्रकार अन्य जीवो का भी हमारे जीवन से कोई सम्बन्ध नही क्योंकि ये हमारे 'स्व' से जुडे हुए नहीं है। फिर सयोग-वियोग किसका होता है। वस्तुतः पदार्थ या व्यक्ति का सयोग-वियोग स्वीकार करना तथा तदर्थ सुख-दुःख का अनुभव करना अज्ञान एव भ्रान्ति है। वास्तव में आत्मा निश्चय दृष्टि से सर्वथा स्वतन्त्र, निरपेक्ष एव असयोगी है। इसका पर से सयोग वियोग कैसा ?

ब्यावर :— दि० ३० दिसम्वर १९७२

योजनाबद्ध कार्य और प्रसन्नता

: ३०१ :

किसी योजनाबद्ध कार्य का सुष्ठुः सम्पादन होना चित को प्रसन्नता प्रदान करता है। अतः कार्य को योजनानुरूप ढालकर तदनुकूल प्रयत्न द्वारा उसे सफल बनाना चाहिए।

अव्यवस्थित ढग से आरम्भ किया गया कार्य यदि 'घुणाक्षर' न्याय से पूर्ण भी हो गया तो उसमे हमारी चातुरी प्रगट न होगी और न हमें आनन्द ही मिलेगा।

ब्यावर :— दि० ३१ दिसम्वर १९७२

"अनुभव पराग"

का

शुद्धि पत्र

पेज स०	अनुभव स०	पक्ति स०	अशुद्ध शब्द	शुद्ध शब्द
१४	१५	८	होग	होगा
१६	१७	४	जाना	जाता
२५	२८	१	वाह्य	वाह्य
२८	३१	६	इसे	उसे
३५	३६	२	ले जाता है	ले लेता है
३६	४०	२	निरभिमानता	निरभिमानता
४०	४४	४	प्रवेश लेती है	प्रवेश पा लेती है
४४	४८	३	जव	जब
४४	४८	४	सव	सब
४४	४८	६	मूल	खुल
५५	६०	७ ८	गुणधर्मों का का	गुणधर्मों का
५६	६१	४	मूल	भूल

पेज स०	अनुभव सं०	पक्ति स०	अशुद्ध शब्द	शुद्ध शब्द
५७	६२	५	दुर्वलता,	दुर्वलता,
			दुर्वलताओ	दुर्वलताओ
५६	६४	५	निम्र	निम्न
६५	७१	८	द्वारा	द्वार
६५	७१	१०	श्रेयास कुमार	श्रेयांस कुमार
७२	७८	७	आत्माशान्ति	आत्मशान्ति
८०	८७	८	अमल	अम्ल
८५	६२	७	विवाद	विषाद
१००	१०७	५	भ्रन्ति	भ्रान्ति
१०२	१०६	१०	वानी	वाणी
१०४	१११	३	शामन	शमन
१०७	११४	५-६	आरम्भ मे ही हो	आरम्भ मे ही
१०६	११६	७	भड़कोले	भडकीले
११२	११६	२	कामरिन्भ मे	कमरिम्भ मे
			किंचित	किंचित्
११२	११६	५	स्वय	स्वय
१२०	१२	१	१२	१२८
१२५	१३३	५	अन्तर को	अन्तः को
१३१	१३६	३	निकल	निकाल
१३३	१४१	५	दूसरों को	दूसरो की
१३६	१४५	५	वेचेन	वेचैन

पेज़ स०	अनुभव स०	पक्ति स०	अशुद्ध शब्द	शुद्ध शब्द
१४०	१४६	६	त्रिना	बिना
१४७	१५६	५	भाषाणादि	भाषणादि
१५१	१६०	५	देख	देखा
१५२	...	१	१३८	१६१
१६०	१६६	३	हा	हो
१८१	१६६	१	वाढ को	वाढ की
१८३	१६६	६	कामनाअ	कामनाओ
१८४	२००	३	स्पप्न	स्वप्न
१८८	२०५	२	वाघाओ	वाघाओं
१६०	२०८	५	हो आते है	हो जाते है
१६३	२१३	३	तरोके	तरीके
१६७	..	१	२६७	२१७
१६८	२१८	२	आचायदेव	आचार्य देव
२०१	२२२	४	ज्ञानो	ज्ञानी
२०७	२२६	४	सम्पपूर्ण	सम्पूर्ण
२१०	२३५	३	अन्यन	अध्ययन
२१०	२३५	५	प्रगेग	प्रयोग
२१२	२३७	५	सीकार	स्वीकार
२१६	..	१	२७२	२४२
२१६	२४२	२	ऋजृता	ऋजुता
२२१	२५१	५	म	देव

पेज स०	अनुभव स०	पक्ति स०	अशुद्ध शब्द	शुद्ध शब्द
२२७	२६०	४	हर्पोल्लाश	हर्षोल्लास
२२८	२६१	६	को	की
२३२	२६४	१	२६४	२६५
२३५	२७०	१०	ि शेष	विशेष
२३७	२७३	हेडिग	मन को शान्ति	मन की शांति
२३७	२७३	१	...	.
२३८	२७६	हेडिंग	धैर्य्य	धैर्य
२३८	२७६	,,	,,	,,
२४४	२८६	४	अत	अतः
२४५	२८८	३	महात्मा की	महात्मा का